ISSN : 2350-0441

Shodh Chetna

शोध चेतना

The International Registered Research Journal

Year - 2 **Apr. to June, 2016** **Volume - 2**

Chief Advisor
Ajaya Srivastava
Librarian, State Central Library, Rewa

Chief Editor
Sushil Kumar Kushwaha

Honourary Editor
Dr. Sanjay Shankar Mishra
Professor and Head, Department of Commerce
Govt. T.R.S. College, Rewa (M.P.)

Dr. Smt. Poonam Mishra
Professor, Department of History
Govt. T.R.S. College, Rewa (M.P.)

Editor
Dr. Surya Naryan Gautam
Vedacharya
Goverment Sanskrit College, Rewa

Managing Editor
Harsh Kushwaha

- The persons holding the posts of the Journal are not paid any salary or remunaration. The Journal's work is purely academic, non political, posts of Journal are honorary.
- The Journal will be regularly indexed and four issues will be released every year in (January to March) - 1, (Apr. to Jun.) - 2, (July to Sept.) - 3, (Oct. to Dec.) - 4

Editorial Board

Shri Narendra Shashtri
Ved Pravakta, Arya Samaj, **Singapore**

Dr. Umakant Mishra
Prof. & HOD (Sanskrit)
T.R.S. College, **Rewa**

Dr. D. N. Tripathi
Associate Professor & HOD (Sanskrit)
Dharma Samaj P.G. College, **Aligarh**

Dr. Narendra Kumar Gupta
Professor, Department of Law
Himachal Pradesh University, **Shimla**

Dr. Vinod Tiwari
Prof. & HOD of Law
Rajeev Gandhi Law College, **Bhopal**

Dr. (Major) Vibha Srivastava
Professor & Head, Department of History
Govt. Girls P.G. College, **Rewa (M.P.)**

Dr. Mahendra Mani Dwivedi
Prof. Department of History
Govt. Girls P.G. College, **Rewa**

Dr. Sudha Soni
Prof. Department of History
Govt. Girls P.G. College, **Rewa**

G.H. PUBLICATION
121, Shahrarabag, Allahabad-211 003

Guidelines to the Authors

Manuscripts of research paper : It must be original and typed in double space on the one side of paper (A-4) and have a sufficient margin. Script should be chekced before submission as their is not provision of sending proof. It must include Abstract, Introduction, Methods, Results and References. English manuscripts must be in Times New Roman font, font size 12 and in double spacing. Hindi manuscripts must be Kruti Dev 010 font, font size 14 and in double spacing. All the manuscripts should be in two copies and in **CD/e-mail : ghpublication@gmail.com**, with a cheque of Rs. 1000 only in favour of G. H. Publication, also for Registration. Manuscripts should be in Microsoft word program. Authors are solely responsible for the factual accuracy of their contribution.

© *Publishers*

Registration Fee : **Rs. 1000.00 (One Thousand)**

Membership Fee :

Single Copy	**Rs. 350.00 (Individual)**	**$ 10**
	Rs. 500.00 (Institution)	**$ 15**
Annual (4 Issues)	**Rs. 1200.00 (Individual)**	
	Rs. 2000.00 (Institution)	

Mode of Payment :

DD/Cheque/Cash should be sent in favour of

G. H. PUBLICATION
Union Bank of India
Chowk, Allahabad-211 003
A/c. No. 394301010122432
IFSC-UBIN 0539431

स्वामी, मुद्रक एवं प्रकाशक : सुशील कुमार कुशवाहा द्वारा 'शोध चेतना', जी.एच. पब्लिकेशन, 121 शहरारा बाग, इलाहाबाद-211 003 से प्रकाशित एवं श्री विष्णु आर्ट प्रेस, 332/257, चक जीरो रोड, इलाहाबाद-3 से मुद्रित। प्रधान संपादक : सुशील कुमार कुशवाहा, (M) 09329225173, E-mail : ghpublication@gmail.com

जनरल में प्रस्तुत विचार और तथ्य लेखक का है, जिसके विषय में प्रकाशक, मुद्रक एवं सम्पादक मंडल सहमत हो, आवश्यक नहीं। सभी विवादों का न्यायिक क्षेत्र इलाहाबाद रहेगा।

 ISSN : 2350-0441

विशेष आवश्यक सूचना

आपको सूचित करते हुए हमें हर्ष की प्रतीति हो रही है कि
हमारी त्रैमासिक, अन्तर्राष्ट्रीय पंजीकृत पत्रिका

''शोध-चेतना''

में प्रकाशित माननीय लेखकों के शोध-पत्र विभिन्न विश्वविद्यालयों
(केन्द्रीय/राज्य), महाविद्यालयों (शासकीय/अशासकीय),
शैक्षणिक संस्थानों एवं अन्य बौद्धिक मठों, आश्रमों/शोध-संस्थानों
के पुस्तकालयों में अनवरत् रूप से भेजी जा रही है जिससे,
इन शोध दृष्टियों से

'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय'

का
उद्देश्य पूर्ण हो सके।

...प्रकाशक

आज ही आदेश करें।

अप्रकाशित मौलिक शोध-पत्र, शोध प्रबन्ध, पुस्तक समीक्षा एवं
पुस्तकों के प्रकाशन हेतु सम्पर्क करें :-

जी.एच. पब्लिकेशन

121, शहराराबाग, इलाहाबाद-211 003
e-mail : ghpublication@gmail.com
Ph. : 0532-2563028 (M) 09329225173

सम्पादकीय

पृथ्वी पर वेद के ज्ञान के पश्चात् शास्त्रों की रचना हुई, जिससे ज्योतिष (गणित) उन छः विधाओं (शिवा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष) में से एक है। यह परम्परागत ज्ञान समाज में अनेक पीढ़ियों तक श्रुति द्वारा चलता गया और फिर उसमें स्मृतिशास्त्र आदि अनेक ग्रन्थ और समाहित हो गये, जिसकी थाह लेना अब सीमा से बाहर है।

मनुष्य का अस्तित्व उसके पूर्वजन्मों की पुनरावृत्ति ही है। उसका वर्तमान जन्म अनादि काल से चली आ रही जन्मों की शृंखला में से एक कड़ी है, जो भूतकाल को भविष्य के साथ समायोजित करती है। लेकिन फिर भी वर्तमान को पिछले अनुभव के आधार पर (भूतकाल) खोजकर भविष्य को जाना जा सकता है।

व्यक्ति के जन्म का क्षण बहुत महत्वपूर्ण होता है। जन्म का क्षण यह बताता है कि जीवात्मा किन कर्मबीजों, संस्कारों को लेकर, किन और कैसे ऊर्जा-प्रवाहों के मिलन-बिन्दु पर जन्मी है। जन्म का क्षण इस विराट ब्रह्माण्ड में व्यक्ति को, उसके जीवन को एक स्थान देता है। यह कालचक्र में ऐसा स्थान है, जो सर्वथा अपरिवर्तनीय है।''

''यह अखिल ब्रह्माण्ड भगवती आदिशक्ति की लीला है। इसमें अनगिनत अनन्त बहुआयामी ऊर्जाधाराएँ प्रवाहित है, जो क्षण-क्षण, पल-पल एक-दूसरे से सृष्टि के कण-कण में मिलती रहती हैं। इनके मिलने के क्रम के अनुरूप ही सृष्टि, व्यक्ति, जन्तु-वनस्पति, पदार्थ, घटनाक्रम जन्म लेते हैं। इसी क्रम में उनका विलय-विसर्जन भी होता है। जिसे सामान्य भाषा में इन सभी की मृत्यु अथवा स्वरूप का रूपान्तरण भी कह सकते है।''

''ज्योतिर्विज्ञान के अन्वेषक महर्षियों ने इन ब्रह्माण्ड व्यापी ऊर्जा-प्रवाहों को चार चरणों वाले सत्ताइस नक्षत्रों, बारह राशियों एवं नवग्रहों में वर्गीकृत किया है। जैसे–किसी का जन्म प्राप्तः 4 बजकर 15 मिनट पर सन् 2000 को हुआ है, तो इसके अनुसार कालचक्र में उसका स्थान निश्चित हो गया है। इस स्थान का परिवर्तन अब मृत्यु तक असम्भव है। अब काल परिभ्रमण के अनुसार–ब्रह्माण्ड ऊर्जा प्रवाह उसे अपने परिवर्तन क्रम के अनुसार प्रभावित करते रहेंगे। यह क्रम क्या और किस तरह है, उसे राशियाँ एवं ग्रहों की युतियाँ लग्न चक्र में उसकी स्थिति तय करती है। इसी क्रम में व्यक्ति के संस्कार एवं कर्मबीज अंकुरित, उत्प्रेरित एवं अभिव्यक्त होते हैं।''

''परन्तु इसे यदि सही ढंग से जान लिया जाये, तो मनुष्य अपने मौलिक क्षमताओं को पहचान सकता है, अपने स्वधर्म की खोज कर सकता है और तब कालचक्र में अपनी स्थिति और प्रभावित करने वाले ऊर्जा प्रवाहों के क्रम को पहचान कर ऐसे अचूक साधना-विधान कर सकता है, जिससे कालक्रम के अनुसार परिवर्तित होने वाले ऊर्जा-प्रवाहों के क्रम उसे क्षति न पहुँचायें।''

ज्योतिष की गणितीय व्यवस्था, नक्षत्रों, राशियों एवं ग्रहों के संयोग क्रम केवल व्यक्ति के जीवन में परिवर्तन क्रम को बताते हैं। महादशाओं एवं प्रत्यंतर दशाओं का यही रहस्य है। परन्तु इसमें से प्रत्येक अवस्था में, परिवर्तन क्रम के अनुसार किन साधना विधान का चयन करना चाहिए यह ज्योतिष विज्ञान का दूसरा पहलू है। ग्रहों के मंत्र, दान की विधियाँ, रत्न, औषधियाँ इसी के लिए हैं।''

–प्रधान संपादक

 ISSN : 2350-0441

अनुक्रम

1. **Steps of State Government and other Activities for Self-employment in Rewa District** 9
Dr. Sanjay Shankar Mishra
Dr. Sanjay Pathak

2. **Social Attitudes and Religious Conceptions as Delineated in 'Kundamala'** 14
Dr. Umakant Mishra

3. **Work is Worship** 17
Geeta Manchanda

4. **भारतीय नारियों के उत्थान एवं सशक्तीकरण में महात्मा गाँधी का योगदान** 20
डॉ. पूनम मिश्रा, करुणापति त्रिपाठी

5. **घण्टानाद का उद्‌भव एवं विकास** 26
डॉ. सूर्यनारायण गौतम

6. **गर्भस्थ शिशु और संस्कार** 30
डॉ. राजेन्द्र प्रसाद चतुर्वेदी, डॉ. श्वेता सिंह

7. **रीवा राज्य का सांस्कृतिक विकास** 33
डॉ. सुधा सोनी

8. **राजकोषीय नीति का भारतीय समाज पर प्रभाव** 39
डॉ. नीलिमा मिश्रा

9. **आयुर्वेद का अभ्युदय** 43
डॉ. रमाशंकर द्विवेदी, डॉ. बुद्धिलाल प्रजापति

10. **मानव संसाधन : विकास एवं नियोजन** 50
डॉ. एम.एल. तिवारी
सीमा तिवारी

11. **बैगा जनजाति : एक भौगोलिक अध्ययन** 55
डॉ. एस.पी. पाण्डेय, मनोज द्विवेदी

12. **शिक्षा : अभिभावक की मनोदशा** 60
डॉ. के.के. शर्मा, मुकेश कुमार तिवारी

13. **कपिल पुराण में व्याकरण चिन्तन** 69
डॉ. धनेन्द्र प्रसाद द्विवेदी

14. **''साहित्यशास्त्र का प्रतिमान-काव्यादर्श''** 75
डॉ. रुचि तिवारी

15. ''आत्मज्ञान श्रेष्ठ लक्ष्य'' 79
डॉ. बृजेश नाथ ओझा

16. ब्रिटिशकालीन भारतीय शिक्षा का आधुनिक भारतीय शिक्षा पर प्रभाव 82
डॉ. पंकज सिंह तिवारी

17. काव्यशास्त्रेषु वर्णित काव्य-प्रयोजन-कारणस्वरूपनिर्णय 89
डॉ. बृजेन्द्र कुमार पाण्डेय

18. ''मध्यप्रदेश के रीवा संभाग की अनुसूचित जनजाति
जनसंख्या का भौगोलिक विश्लेषण 95
डॉ. अश्विनी कुमार पाण्डेय

19. ''मध्यकालीन भारतीय सामाजिक समरसता में रामानंद की भूमिका'' 99
डॉ. निशा तिवारी

20. ''अंचल की भाषा संबंधी अवधारणा'' 104
डॉ. रश्मि श्रीवास्तव

21. 'अष्टमशताब्दी के संस्कृत काव्यों में शिल्प कला' 108
डॉ. पूनम

22. ''वाल्मीकीय रामायण में प्रतिपादित औषधीय वृक्ष एवं उसकी उपादेयता'' 115
रंजीता मौर्या

23. मुगल चित्रकला में प्राकृतिक एवं वन्य प्राणियों का दिग्दर्शन एक अध्ययन 122
डॉ. कुंती साहू, डॉ. पूनम मिश्रा

24. ग्वालियर पर्यटक स्थल का एक विवरण 126
बबीता बाथम

25. भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक के संगठन का विश्लेषण 129
सोनाली पाण्डेय

26. सुप्रभात (योग : एक नई नजर से) 133

27. हमारे प्रकाशन द्वारा प्रकाशित पुस्तकें 135

28. गेहूँ की उपज पर समेकित पोषक तत्त्व प्रबंधन का प्रभाव 137
शिव प्रसाद विश्वकर्मा, एस. पी. वर्मा

29. जनसंख्या, मानव हस्तक्षेप एवं पर्यावरण 142
एस. पी. वर्मा

30. गुलाब की खेती की समस्याएँ 145
डॉ. जे.पी. सिंह

ISSN : 2350-0441

इस भौतिक जगत में हर व्यक्ति को
किसी-न-किसी प्रकार के
कर्म में
प्रवृत्त होना पड़ता है।
किन्तु
ये कर्म ही
उसे इस जगत से
बाँधते या मुक्त कराते हैं।
निष्काम भाव से परमेश्वर की प्रसन्नता
के लिए कर्म करने से
मनुष्य कर्म के नियम से
छूट सकता है और आत्मा
तथा परमेश्वर विषयक
दिव्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

कर्मयोग-गीता

वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है।
वेद का पढ़ना-पढ़ाना
तथा
सुनना-सुनाना
सब आर्यों का परम धर्म है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUNE, 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

STEPS OF STATE GOVERNMENTAND OTHER ACTIVITIES FOR SELF-EMPLOYMENT IN REWA DISTRICT

❐ **Dr. Sanjay Shankar Mishra***
❐ **Dr. Sanjay Pathak****

ABSTRACT

The large number of population create many problems for the country. It is difficult task for the government to provide livelihood for growing population. The government has taken many measures for solving this problem. It is necessary to show right direction to the young generation. The government is focusing on self-employment. The different types of programme are started for increasing interest in the people for starting own business. Mukhymantri udhmi yojna, Mukhymantri swarojgar yojna, Mukhymantri economic development yojna are started recently by the government. The government has considered the people who are not able to take good education. The eligibility for Mukhymantri udhmi yojna and Mukhymantri swarojgar yojna is high school and class V respectively. The amount of loan given for this program me is between Rs20000 thousand to 10 lakh. They have to return this amount at minimum rate of interest. Government is also providing margin money to the people in these programmes. This money is given to the people for starting industries, shops or service activities. The beneficiary should be minimum 18 years old for obtaining loans. Government has made provision for the training of the candidates. They are also given advices for solving problems.

* Professor and Head (CommerceDeptt), Govt. T.R.S College, Rewa (M.P.)
** Asst. Professor (MBA Deptt.), RIT, Rewa (M.P.)

(1) INTRODUCTION

There are jobs both in government and private sector. The government is not able to provide jobs to large number of people. In present time it is not easy to find jobs in government sector. The corruption is one of the factor due to which our country is suffering.It is difficult to implement policies. Budget and good planning are important for creating jobs. There are many problems in private sector. The owners want to take maximum benefit from their working employee. There is lot of exploitation in the private sector. They give preferences to the people who have political background. The owner takes decision in terms of their profits. The people who are at the bottom level are suffering. Self-employment is good option for earning livelihood. People can respectfully run their family from their own work. People can be self-employed in various way. The government provide 10 lakh for starting rice mil, dal mill, flourmill, oil mill, poha and murmura mill. The loan is given for establishing both cottage and small scale industries. Candidate should not be defaulter from any nationalized or cooperative banks. The application for loan is forwarded to the banks after recommendation of district task force. Banks have to solve problem within 30 days according to instruction of Reserve Bank of India. Loan should be provided within 15 days. The people choose their business according to their interest. Government is providing many aid for the self employment program me. In various districst aid given through district trade and industries center.

(2) DIFFERENT PROGRAMMES OF GOVERNMENT

In Madhya Pradesh government had started many different programmes.There was Mukhymantri Rojgar Yojna,Deen Dayal Rojgar Yojna, Rani Durgawati Schedule Caste and Schedule Tribe Self Employment Yojna, Mukhymantri Backward class and Minority Self Employment Yojna, Mukhmantri Economic Development Yojna, Mukhymantri Cycle Rikshaw Yojna etc. These all programmes are merged into three programmes Mukhymantri Yuva Udhmi Yojna, Mukhymantri Self Employment Yojna, Mukhymantri Eonomic Welfare Yojna. The government is paying special attention on the people who are below poverty line and working as hand cart driver, rickshaw puller, potter etc. This help is provided through district trade and industries centre in the various districts. It is required to submit mark sheet, caste certificate, residence proof, photo for verification in the district trade and industries center.

(I) MUKHY MANTRI SWROJGAR YOJNA

This was started on 1 August 2014. The criteria for eligibility in all these programmes are not same. The beneficiary have must passed class V for obtaining loan. This programme provide loan to those people who have not passed even high school. The permanent residence of the district having age between 18 to 45 years are eligible for loan. This is for industries and trading purpose. The limit of the loan is between 20 thousand to 10 lakh. Margin money is also provide to the people. The maximum amount

of margin money is Rs. 1 lakh for general category. This amount is raised to 2 lakh for people who are below poverty line ,backward class exempting cream layer, schedule caste, schedule tribe, women and minority. The margin money is 30% of total amount of project. The rate of interest grant is 5% per year. The two copies of each document have to submit. All documents must be self attested. These all document have to submit in district trade and industries center. There is no requirement of collateral security. The various type of documents are require to submit in the office. The application for the project in required format, residence proof, mark sheet, two photos are required for obtaining loon. The people belonging to the backward class, schedule caste, schedule tribe have to submit caste certificate, voter identity card,ration card, driving license any of them for identify proof.

(II) MUKHYMANTRI YUVA UDHMI YOJNA ANDECONOMIC DEVELOPMENT PLAN.

The eligibility criteria for taking loan in this programme is different from other programmes. The benefit is given to all the people who have passed high school from recognized board. Beneficiary must be permanent residence of the district and between 18 to 40 years. This benefit is given only for the industry and services sector. The government is providing Rs. 10 lakh to 1 crore in this programme. The maximum Rs. 12 lakh is provided as margin money which is 15% of the total investment in the plant and machinery.

The amount of interest on grant is 5% of total investment. The various other type of facilities are provided in the industrial development policy. The benefit of collateral security are given under the CGTMSE. There is provision of training and guarantee loan. District trade and industries center and nodal department of commerce, industry and employment are giving these facilities. The candidate should not be defaulter from any nationalized, financial institutes or cooperative banks.The completed application should be submitted in district trade and industries center and bank. The staff of the office informed the beneficiaries when forms are incomplete. This form are presented before the district task force committee. Collector, mukhy karayapalak adhikari of zila panchat, representative of nationalized bank and ITl or polytechnic etc are members of district task force committee. The application is forwarded to the bank only after recommendation of district task force. Credit guarantee trust for micro and small enterprise take guarantee for industries and service related units under loan guarantee planning. Banks not demand collateral security from beneficiaries. They has to solve problem within 30 day according to the instructions of Reserve bank of India. The loan will be provided within 15 days after agreement of the case. District task force help in implementing plan and solving problems. This also help in establishing units. There is provision of training after sanctioning loan. The minimum duration for moratorium is 6 months. Nationalized banks, Cooperative banks, Regional rural development banks are recognized by credit guarantee trust for micro and small enterprises. The government takes action against beneficiary for any wrong and illegal information.

This plan started for establishing new units. The poorest section of society is provided working capital and instrument to work. The maximum amount of Rs20000 given in this project. The age limit of beneficiaries are between 18 to 55 years. This facility is provided even to those people who have not taken any type of education. The people who are below poverty line like hand cart driver, rickshaw cycle puller, potter, street vendor etc are provided this facility. Margin money is also given which is 50% of the total value of project. The maximum margin money is Rs. 10,000.The government is providing many facilities to the people for becoming self-employment.

(3) OTHER ACTIVITIES

The people are involved in trading of various products. Many people are earning their livelihood from their business. There are different types of activities. The large number of people are involved in mini rice mills, poha and murmura mils,dal millls. There are many agro-based industries in this district. They are providing work to large number of people. They can be established easily in rural area. Many products like ghee, makhan, paneer, curd are produced in dairies which also come in agro-based industries. These products have high demand in urban area. Ricemills and dal mills are not only supplying in this district but also in other states. Dal are highly demanded in West Bengal and Bihar. About 85% dal are supplied in these two states. In this district more than 75% people are involved in agriculture and related work. There is no work for rural people during some reasons. These industries provide job to the people during off season. Jam, jelly, pickle, papad are prepared in cottage and small scale industries. The products like biscuit, toast, vermicelli, namkeen can be produced in small investments. These products are purchased even by people who have low income. They are highly demanded for breakfast. The demand of edible products like sonapapri, mechanized rasgoola, water pouch are increasing day by day. The cost of water pouch is Rs. 1 and 2. The demand of packed water is high during summer season. Boxes are required for packaging purpose which are made of thick papers. They are used in shops of sweet, gift, cloth etc. They are helpful in protecting products.

Stitching also provides work. Large number of people are engaged in this work. Men and women both can earn their livelihood through stitching work. Furnitures are required in offices and homes. This provide job to large number of people The demand of beds, tables, chairs are increasing day by day. In present time furnitures are made of plastic. Toys made of wood are also popular for children. Bags are used for carrying products from one place to another. Manufacturing of bags are also one of the source of earning livelihood for labours. Stationeries have good demand in markets. Copies, pens, pencils are important for educational institutes. The mineral processing, stone cutting, polishing also provide work. The large number of people are involved in welding, job work and manufacturing of grill, shutter and nail. The glass work like window fitting, almirah, spectacles are also popular. Goldsmiths,blacksmiths are also demanded in market.Artificial jewellaries are becoming popular day by day.

(4)BUSINESS AND SERVICES

Photography, photocopy, printing works are also growing. Repairing of auto and motor cycle, electrical and electronics products, heavy vehicles, ,furnitures, cycles and agricultural equipments are popular. Many families are dependent on repairing works. Tent house with catering is also good business during marriage seasons. Boutique, beauty porlour are becoming center of attraction. Plumbers and hand pump mechanics are always required in house .The work of seat cover and rexin are popular in market. Legal and financial consultancy are also vital in present time. People are takings information from these consultancies. Fast food corner are becoming popular among youth. Many families have less time to spend on cooking so they are interested in taking such type of food. Centering work, transportations, dry cleaners, architect consultancy, painting and servicing of vehicles, screen printing, flex printing and nickel plating are important for running families. People are earning through these business from long time.

There are various type of shops. People are running according to their interest. There are kirana stores, readymade cloth shops, hard wares, paint shops ,plastic shops etc. The small shops can be started in small investment. The government is providing loan for such type of works. The government is giving loan under Mukhyantri Swarojgar Yojna ..

(5) CONCLUSION

The population is increasing day by day in our country .The government is trying to solve the problem of unemployment at root level. The different programmes are runned by government for opening path of self-employment. The jobs in government sector are not adequate. People in the private sector are exploited. They are not satisfied in the private sector due to not good reward of their work. The government is providing various facilities for starting own business. There is provision of Rs 20000 to 10 lakh for starting industries and shops. The people are also provided loan for learning photography, printing work, repairing, financial consultancy work, photocopy. This help in changing economic conditions of people. The better result will come when people are trained properly. People can earn through their own work.Small scale and cottage industries are providing work to large number of people. Small work can provide work to large number of people.The procedure of obtaining loan from government should not cumbersome. Poor and illiterate can obtain loan easily from government.

(6) REFERENCE

1. MukhyMantriYuva Yojna, Udhyog Sanchalnaya, Madhya Pradesh, Vindhyachal Bhavan, Bhopal.
2. Rewazila ka vartman udhogik paridrishya avam varsh 2020 ki Parikalpna, zila vyapar avam udhyog kendra Rewa.
3. Garibi bhgaye, garima bdaye,Sharma Pandit SriRam Acharya,Yug Nirman YojnaVishtar Trust,Gayatri Tpobhuvi Mathura.
4. Aarthik Swalaban, Vedmata Gayatritrust, Shantikunj, Haridwar, Fourth Edition,2010.
5. Books related to District industries and business center.

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUNE, 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

SOCIAL ATTITUDES AND RELIGIOUS CONCEPTIONS AS DELINEATED IN 'KUNDAMALA'

❐ Dr. Umakant Mishra

Is Dinnaga, the author of the Kundamala, to be identified with Dinnaga, the great Buddhist logician? The internal evidence of the drama would lead us to the conclusion that it is later and more developed than the dramas of Bhasa and its Prakrit would also point to fourth or fifth century as the date of its position. This is also supported by the reference in Meghduta discussed below, according to which Dinnaga was a contemporary of the great Kalidasa. The date Dinnaga, the logician, also falls in the same period. He works, were translated into Chinese by Parmartha in 557-569. So he must have flourished at the latest in the early years of the sixth century A.D. Now the position of Dinnaga in relation to the other great logicians of this period would clearly indicate that he has to be placed either in early part of the fifth century or the last years of the fourth century. Vatsyayanan, the author of the Nyaya-sutra-bhasya was attacked by him while he in his turn, was attaced by Udyotakara in his Nyaya Vartika and Prasastapada, who was evidently earlier than Udyotakara, shows clear traces of the strong influence exercised by the doctrines of Dinnaga on his work. Udyotakara is aid to have been answered by Dharmakirti spoken of by It-sing (671-695) and believed to be a contemporary of Kumarila.

It seems thus that Dinnaga the logician and Dinnaga the dramatist are to be referred to almost the same period and this would be a very strong argument to identify them. But how are we to believe that a great Buddhist scholar, an inveterate opponent of the Brahmanic schools of philosophy taking Delight in crushing victories against exponents of Hindu thought at Nalanda and the other great Universities of ancient India would condescend to write on a theme which is essentially Hindu in character. We have in Kumaradasa, the author of Janakiharana, an instance of a Buddhist writer handling the same theme. The author of Kundamala, however, goes further and invokes Ganesa and the matted heir of Siva in the beginning of the Prelude which would be hardly compatible with his strong Buddhistic views. Throughout the drama, there are numerour passage pointing to his belief in Puranic Hinduism. Unfortunately this aspect of the question has not yet attracted the attraction of scholars. The editors of the text of the Kundamala disposed it of in a few sentences

* Professor (Sanskrit), Govt. T.R.S. College, Rewa (M.P.)

which carry little conviction. Sanskrit Drama by Prof. A.B. Keith was published in 1924, just a year later than the first publication of the Kundamala. He was naturally unaware of its existence at the time he wrote his work. While criticizing the much discussed reference of Mallinatha about Dinnaga, he remarks-'Why a Buddhist logician should have attaced a poet does not appear, especially as every other record of the conflict is lost'. (Keith : The Sanskrit Drama, p. 145) Prof., Keith was then aware of the lost Kundamala about whose authorship nothing was known.

Kundamala, when widely known, is sure to find an honoured place amongst the great dramas of Sanskrit language. The charming simplicity of its language, the natural elegance of its style, the human touch that permeates throughout its plot are qualities rarely to be met with in works of this class. The author, so far known to us only as a famous Buddhist logician and a skilled debater, was believed to be a contemporary of Kalidasa. The plot of his work is woven round a theme, which was later on seized upon by the great Bhavabhuti as basis of the best masterpiece of his genius.

Social Attitudes

Kundamala, like any other dramatic work, presents to us a social picture of the age when it was composed. The glimpses of society that we have here also strengthen the belief that the author was living at a time when the task of Brahmanic revival had been practically completed.

The Brahmanas occupy a position of great ascendency. They are an object of reverence even for the kings. When the two ascetic lads, Kusa and Lava, believed by Rama to be Brahmana boys, pay him respect, he regards this act as a transgression of proper conduct. (मर्यादालङ्घनम्) (p. 111) and says 'Alas! I have been bowed by the head of a Brahmanas.' (कष्टं ब्रह्मशिरसा नतोऽस्मि/p.111) The welfare of the Brahmanas is always forefront (स्वस्ति ब्राह्मरोभ्यः p.145).

The ascetics are held in great esteem. They are the beacon lights for the progress of human society. Great is the efficacy of their austerities-

अपि नाम शरा मोघास्तपस्सन्नद्धमूर्तिषु।
वासवस्यापि सुव्यक्तं कुण्ठाः कुलिशकोटयः।।
(V. 14.)

'Verily, the arrows are ineffective against those who have their persons mailed with (the armour of) penance; obviously the edge of the thunderbolt of Indra of no avail (lit. blunt) against them.'

The best amongst them like Valamiki, Visvamitra and Vasistha are gifted with a contemplative vision (p. 50) and power by which the secrets of the whole universe are revealed to them (प्पवाह्पच्चक्खीकिद्सव्वलोमरहस्सा p. 141)

The reverence for the cow which is to-day one of the few visible characteristics common to the innumerable heterogeneous sects of Hinduism finds a prominent place in the work. Their welfare is the supreme object of attainment (स्वस्ति गोभ्यः p. 145) and the drama ends with a prayer for their increase (वर्धतां गोकुलम् p. 159).

Women share the sacrifices alongwith their husbands as they did in the Vedic period but their position in society is distinctly worse though it may not yet have approached the

low ebb to which it was degraded in the Medieval India. Sita is once addressed as ***'abala'*** and there are explicit references to the ***Parda*** being obsered at least before strangers (अवगुण्ठं नाटयाति, etc. and परपुरुषनयनपरिक्षिप्ता etc.). Of the social rites of the later Vedic period, the *punsavana* is mentioned (I, 31.). Validictory ceremonies are performed at the time of departure. (pp. 40-41)

There is an interesting reference to the statue of Dasaratha in the first act (शुश्रूषितव्यः प्रतिमागतो महाराजः) indicating that the images of high personages were prepared after their death and proper homage was paid to them.

It may not be out of place to note here the fact that the drama does not, reveal any reference to non-Brahmanic religions. This would be strange if we believe the author to be identical with his Buddhist namesake. One single world which may be construed otherwise is ***'aptapadai'*** (V. 8) which may be non-technical or may perhaps refer to Buddhist ***'Arhats.'***

Religious Conceptions : The internal evidence of the drama leads one to the irresistible conclusion that the Pauranika form of Hinduism had fully matured by the time of Dinnaga. The author of Kundamala like Kalidasa shows perfect familiarity with later Hindu mythology as described in the Puranas and other kindred works.

The theory of the Avataras is well established. Rama believed to be an incarnation of the god Visnu (रामाभिधानो हरिः III.14) who is also called 'the Primeval Prusa (पुराणपुरुष p. 123) and the lotus-navelled god' (सरसि रुहनाभः p.124). A another place, the hero is called the slayer of Madhu' (रामाहयस्य मधुसूदनस्य p.21). Even the legend of 'The Great Boar' is alluded to (VI. 32).

The legend of the Ganges is found here in a fully developed form. The river is addressed as 'the Mother Ganges (I.26), Bhagirathi and Jahnavi or Jahnu-tanaya (the daughter of Jahnu).' Its sight is sought for and is believed to be destructive of all sins (p.7). Presents are made to the Sacred River (Act I, p. 52) which is believed to have descended from Siva's forehead (I.2).

Other notable Pauranika legends alluded to in the drama are the churning of the ocean by the gods (V.27), and the rule of Vasuki, also called Sesa, in the neither world with the earth resting on its hoods (V. 27). Siva is mentioned under the names of Sambhu and Mahesvara, with his consort as Uma and the digit of moon resting on his forehead (IV. 6). Ganesa is given the place of honour by being invoked under the name of Heramba in the opening verse of the drama. Indra, the ruler of heaven, is referred to by various names–Puramdara, Jambhari, etc. and his wife as Shachi. (IV. 8.)

The Vedas, the chanting of the Samans, and the smoke of the sacrificial fire are frequently described.

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUNE, 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

WORK IS WORSHIP

❐ Geeta Manchanda

ABSTRACT

Work is necessary for human being. God gives us life for doing our duties and responsibilities of our family. This is our religion that we do our work as worship of God. Almighty also give us His blessings when we do our work sincerely. We are also responsible for our society and cou8ntry India. We have some duties for nation and our serial works. It is true that work is worship for men or women or any humen-being.

our work honestly and sincerly. If we labouring hard in our life than we must get success and over aim of life. God and nature also helps us and we never get any sorrow in our life. Our nature and our behaviours gives us respectful life in the society. Everyone gives us respect and praise us for our best behaviour. Our good nature impress everyone and our elders also gives us their blessing and we by their blessing we never failed in our life.

If we work lord in our life and we always thingks that our work is God's gift there we never feel tired in our life and we does our work honestly. No work is good or bad. If a sweeper every our than it is also his best work if a carpenter makes furniture and a coppler makes shoes than it is not bad work or it is nut shameful for live because Gods divided our works in different part. Some people are affier or minister or somes one is getting best proof or same one has good position in society. Someone is leader or some of one is prime minister of our country. But we never says that a poor man sold tea or ... things in shops every peoples work of the society is necessary for us.

If there is no business man are in the society or no shopkeepers are in the market than how we fulfill our want or how we get necessary things of our life. If there is none become work in field than how we get our food. So farmers are also playing good part in our society. Farmers gives us many types of fourth, vegetables and crops for eat. So they are also does their duty honestly in their field. If tailor does not seving our clothes than how we wear new clothes. So that in the

* B.A. (Hons.) English, Beniganj, Allahabad

society all the works are necessary for making our life confertables. So we never complaning anyone for his work. All works of this world in necessary for men or humen being because we cannot live without food or cloth or land. We all are depends upon each other and we must have friendly behaviour with each other. We are getting jwellary from Goldsmith, pots from ..... who making old the pots from soil there days we used stainless steels copper and pitals pots best in an ancient days we don't ... about any metals so we use only pot of soil for making our food. In the beganning people exchange with eachother their goods as their wants. There is not any money or coins in this age. All works of the society depends upon exchange . For example a farmer getting another from market by giving shopkeeper his crop or vegetables. After some time people makes coins and rupee in society than we purchase anything from paisa and Rupees. So that our world in chargeable. We always see a new face of this world.

World is changable each and every minits of our life change something and change the worl day by day. Some new inventings and discoveries held in world daily and there ... change the rules of world. When some new inventions held in the world we became very happy to see something new. Science is really great because we get new inventer by it.

Punctuality is bet for doing any work. For we must have punctual in our life. Punctualities is the part of discipline. If we all obey the rule is punctuality we must ... success in our life. Punctuality is the key of successful life. A mass who is always punctual never fail in his life because he knows the value of time. The time is very valuable for human being the time which is passed never comes again and so we must have do our work with punctuality so that we use the valuable time of our life. Each and every minute of life is valuable and we must have use it with punctuality. Punctual life gives us success and we achieve our aim of life. For example we wake up early at the morning daily and tolering our bath in ... than worship so God and than start our daily routien work. We do all our works timing and fulfill our responsibility for our family. If we do our work timely we never fuil in our life. A house-wife manage all the management of home by her punctuality. She do all her house hold work in fire time for that she fulfill all the wants of all family members. The gents of the home does their work timely and goes to office in right time. This is called punctuality of life. Children are also punctual for their school and college. They goes timely for studies. So punctuality is a part of our life. We must does our all works by punctuality. Some lazy people have not value of time so they always because late in their work in proper way. Because they are not punctual in their life. Such a man are always faith in their life because of their lazyness. They does all their work slowly and sleep like donkey. They have not fine way time of look or duty. Lazyness is a disease which make people like animal. So punctuality is best for human being. Our whole life success is depend upon punctuality of our life. If we does our work properly then we get alway success in our life. So we always pray to God that lie gives us best mentality that we do our work of with punctuality.

The life of human being is bounded with rules and regulations. So we get us early at

the monrings daily and does all our works faithfully. If we elders does our work in right time than our kids also does their works regularly.

The whole world is bounded with rules and regulations of Almighty. Each and everyday morning came with new happiness and sorrow of life. We are waiting at night when sun rises and we start our whole days works. This is our daily routien we do our work properly at morning. In afternoon we became tired and taking rest. At evening we come reach our sweet home and spend our time with our family members. And at night we became too much tired and taking sleep till monring. All works of human being are started at monring and complete at night.

If human beings are break up this rules of life than he is suffering with many diseases. So this world is depend upon rules of God who make day and night. If we obey all the rules and regulations of God than we must spend our life with peace and happiness. Some people labouring hard and some are doing little work for earning money. We all are doing our duty and fulfill our responsibility sincerely. Some people who are criminal of society on not living in proper way in society. They does only crimes and created problems in society and nation and world. So such a men are called criminals or terrorists. Such a man are dangerous for our unity they are creating horror and fear among people and spoiled the life of society. They are enemy of human beings creating always problems. So we called them terrorist and crimanals of society.

If we do our work honestly and sincerely than it is good for our family life. If we lived in society peacefully and happily than it is best for our nation also.

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUNE, 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

भारतीय नारियों के उत्थान एवं सशक्तीकरण में महात्मा गाँधी का योगदान

❒ डॉ. पूनम मिश्रा
❒ करुणापति त्रिपाठी

शोध सारांश

भारतीय संस्कृति में नारी का सर्वदा ही महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यहाँ की परंपरा यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता पर आधारित रही है किन्तु कालांतर में इस विचारधारा में विभिन्न प्रकार के दोष उत्पन्न होने से भारतीय नारी की गौरवमयी स्थिति का अधोपतन हुआ। इस स्थिति के लिए स्मृतिकारों और नारी चारित्र के नीति निर्माताओं को दोषी ठहराया जा सकता है किन्तु इस रुढ़िवादिता और अंधविश्वास का अनुकरण किये जाते रहने के कारण तत्कालीन समाज को भी दोषमुक्त नहीं किया जा सकता। यद्यपि इस दौरान विभिन्न कालांतरों में प्रबुद्ध व्यक्तियों या संस्थाओं द्वारा भारतीय नारी की स्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयास किया गया जिसमें उन्हें आंशिक सफलता भी प्राप्त हुई तथापि कुछ दोष अभी भी जीवंत थे। इस कार्य को और आगे ले जाने में महात्मा गाँधी का एक अहम योगदान रहा। महिलाओं में सदियों से चली आ रही रुढ़िवादिता, अंधविश्वास तथा सामाजिक पिछड़ेपन की स्थिति को गाँधी जी के दर्शन ने बदल दिया। गाँधी विचारधारा में नारी की स्थिति पर जो भी विचार प्रकट किए गये है, उसका मूल बिन्दु नारी के प्राचीन परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखकर उसकी वर्तमान समस्याओं का हल प्रस्तुत करना रहा।

सृष्टि सृजन की प्रक्रिया में मनुष्य का आविर्भाव प्रकृति की एक अद्‌भुत संरचना है। शक्ति के अलावा बुद्धि और विवेक का बेजोड़ मिश्रण उसे अन्य प्राणियों में विशिष्टता प्रदान करता है। प्रगैतिहासिक काल से वर्तमान समय तक उसने अपने विकास की जो इबारत लिखी, वह उसकी सर्वश्रेष्ठता की परिचायक है। यह उसके असभ्य से सभ्य मानव बनने की सफलता को द्योतित करता है। मानवीय विकास के इस आयाम में नर और नारी दोनों का अभूतपूर्व योगदान समाहित है। इन दोनों तत्वों के विकास का अलग–अलग अध्ययन करने पर असंतुलन की स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

* प्राध्यापक (इतिहास विभाग), शासकीय ठाकुर रणमत सिंह महाविद्यालय, रीवा (म.प्र.)
** शोधार्थी (इतिहास), शासकीय ठाकुर रणमत सिंह महाविद्यालय, रीवा (म.प्र.)

असंतुलन की यह स्थिति क्यों और कैसे उत्पन्न हुई, इसके कारक क्या थे और भारतीय समाज पर इसका क्या असर पड़ा। इन सवालों के समाधान के लिए भारतीय नारी की स्थिति का अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है।

अध्ययन की इस प्रक्रिया में विभिन्न कालांतरों में भारतीय नारियों की स्थिति में भी विभिन्नता देखने को मिलती है। वैदिक काल में जहाँ उन्हें शिक्षा ग्रहण करने, वेदों का अध्ययन करने, धार्मिक क्रियाओं में भाग लेने तथा वर के चयन की उन्हें स्वतंत्रता प्राप्त थी। उस समय की विदुषी महिलाओं में अपाला, घोषा, विश्वतारा के नामों का उल्लेख हुआ है। उत्तरवैदिक काल से मध्यकाल तक भारतीय समाज में बहुविवाह, बालविवाह, विधवा विवाह निषेध, बालिका वध तथा सती प्रथा जैसी कुरीतियों के आगमन से भारतीय नारी की स्थिति पतनोन्मुख हुई। मुगलों के आगमन से जहां पर्दा प्रथा जैसी नयी कुरीति का प्रवेश हुआ, वहीं बाल विवाह तथा जौहर प्रथा में भी बढ़ोत्तरी हुई। स्त्रियों को चहारदीवारी में कैद किए जाने से उनकी शिक्षा प्राप्ति में बहुत गंभीर संकट उत्पन्न हो गया। ब्रिटिश काल में भी यह स्थिति बदस्तूर जारी रही। यद्यपि इस दौरान प्रबुद्ध वर्ग के उदय ने इन सामाजिक कुरीतियों का विरोध किया तथा ब्रिटिशों को इस दिशा में कठोर कानून बनाने के लिए विवश किया। इस प्रबुद्ध वर्ग में राजा राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, केशवचंद्र सेन, देवेन्द्रनाथ टैगोर, महादेव गोविन्द रानाडे, विवेकानन्द, बी.एम. मालाबरी, ज्योतिबा फुले आदि का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। सती प्रथा की समाप्ति तथा बाल विवाह और बालिका हत्या निषेध संबंधी कानूनों का निर्माण हुआ। विधवा विवाह से संबंधित कानून भी 1856 ई. में पारित हो गया किन्तु अभी भी भारतीय समाज में उतनी जागृति उत्पन्न नहीं हो पायी। इस दिशा में 20वीं सदी के समाज सुधारकों ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस श्रेणी में महात्मा गाँधी एक ऐसे व्यक्ति के रूप में उभर कर सामने आए जिन्होंने इस दिशा में विशेष कार्य किया।

महात्मा गाँधी का जन्म 2 अक्टूबर, 1869 ई. को गुजरात के पोरबंदर जिले में हुआ था। प्रारंभिक पढ़ाई देश में ही हासिल कर बैरिस्ट्री की पढ़ाई के लिए लंदन गये। वहाँ से लौटकर भारत में ही कुछ समय तक वकालत की किन्तु ज्यादा सफल नहीं हुए। अपने मित्र के अनुरोध पर दक्षिण अफ्रीका में रह रहे भारतीयों पर वहाँ की सरकार के विरुद्ध किए जाने वाले अत्याचार की पैरवी करने के लिए उन्हें वहाँ भेजा गया। इसी दौरान उन्होंने सत्याग्रह तथा अहिंसा का सफल प्रयोग कर वहाँ रह रहे भारतीयों की अधिकांश समस्याओं का निवारण किया। 1915 ई. में वे भारत लौटे तथा अपने राजनीतिक गुरू गोपालकृष्ण गोखले की सलाह पर एक साल तक भारत का भ्रमण कर यहाँ की समस्याओं से परिचित हुए। उन्होंने भारतीय नारी की सामाजिक स्थिति पर अपने विचारों को समाज के सम्मुख रखा जिसमें अंधविश्वास और रुढ़िवादिता पर तीखा प्रहार शामिल था। उनके अनुसार स्त्रियों की दुरावस्था का प्रमुख कारण उनमें व्याप्त अज्ञान तथा शिक्षा का अभाव था। स्त्री शिक्षा को महात्मा गाँधी ने सर्वोपरि स्थान दिया है। उनके विचार में समस्त प्रचलित सामाजिक कुरीतियों के जड़ में नारी की अशिक्षा ही है। विद्या के बिना मनुष्य पशुवत है। इसीलिये पुरुषों की भाँति स्त्रियों के लिए भी शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक है।

गाँधी जी ने समाज और देश को रसातल में पहुँचाने वाले बाल विवाह को विवाह मानने से इंकार कर दिया। उनके अनुसार जो लड़की गोद में बैठने के लायक ही नहीं हुई है, उसे पत्नी बना

लेना किसी भी अर्थ में धर्म तो नहीं है लेकिन अधर्म की पराकाष्ठा है। मैं हिन्दुस्तान के हर युवक से यह आशा रखता हूँ कि वह 16 वर्ष से कम उम्र की लड़की से विवाह न करने का निश्चय कर ले। इसी से बाल विधवा की स्थिति निर्मित होती है। उन्होंने कहा कि मुझे बाल विवाह से घोर घृणा है। बाल विधवा को देखकर मैं काँप उठता हूँ और उस समय क्रोध से अभिभूत हो जाता हूँ, जब कोई व्यक्ति पत्नी की मृत्यु होते ही सर्वदा उदासीन भाव से दूसरा विवाह कर लेता है। मुझे उन माता–पिताओं पर भी क्षोभ होता है जो उन्हें केवल किसी कमाऊ व्यक्ति से विवाह कर देने के लिए पालते हैं। लड़की के विधवा हो जाने पर इन माता–पिताओं को उसका पुनर्विवाह कर अपने पाप का प्रायश्चित करना चाहिए।[1]

पर्दा प्रथा महिलाओं को चहारदीवारी के अंदर बाँधे रखती थी। गाँधी जी इसे बड़ा लचर तर्क मानते थे कि पर्दा स्त्रियों की चारित्रिक पवित्रता बनाए रखने में सहायक है। प्राचीनता के आधार पर किसी चीज को अच्छा मान लेना उनकी नजर में गलत था। उन्होंने कहा कि यदि प्राचीन सब अच्छा ही होता तो पाप कम प्राचीन नहीं है परन्तु चाहे जितना भी प्राचीन हो पाप त्याज्य ही रहेगा। उसी तरह पर्दा कितनी ही प्राचीन हो आज बुद्धि उसे कबूल नहीं कर सकती। आज पर्दा प्रथा जिस हालात में है, वर्तमान में उसका समर्थन करना असंभव है। गाँधी जी के अनुसार पर्दा कोई बाह्य वस्तु नहीं है, वह एक आंतरिक वस्तु है। बाह्य पर्दा करने वाली कितनी ही स्त्रियाँ निर्लज्ज पाई जाती है। जो बाह्य रूप से पर्दा नहीं करती परन्तु जिसने आंतरिक लज्जा नहीं छोड़ी, वह स्त्री पूजनीय है। जड़ता के वशीभूत होकर हम सभी प्राचीन कुप्रथाओं का समर्थन करने को तत्पर हो जाते हैं। हमारी यह जड़ता हमारी उन्नति को रोकती है। यही जड़ता स्वराज्य की दिशा में हमारी प्रगति में रुकावट डालती है।[2]

दहेज प्रथा भी गाँधी के आक्रमण का निशाना थी। उनके अनुसार लड़कियों के लिए यह बेहतर है कि वे आजीवन अविवाहित रह जाए, न कि ऐसे व्याक्त से शादी कर ले जो दहेज मांग कर उनका अपमान करता हो। जिन शादियों में दहेज मांगा जाए उनमें प्यार हो ही नहीं सकता। उन्होंने इस प्रथा के लिए जाति प्रथा को भी कुछ हद तक जिम्मेदार ठहराया। उन्होंने कहा कि अगर दहेज प्रथा का उन्मूलन करना है तो लड़के–लड़कियों या उनके माता–पिताओं को जाति के बंधन तोड़ने होंगे। गाँधी जी के अनुसार इसमें संदेह नहीं कि यह हृदयहीन रिवाज है। यह प्रथा जनसाधारण में प्रचलित नहीं थी। मध्यम वर्ग के लोगों में यह रिवाज पाया जाता है जो भारत के विशाल जन–समुद्र में बिन्दु मात्र है फिर भी इसका यह अर्थ नहीं कि इसकी ओर ध्यान ही न दिया जाय। यह प्रथा तो नष्ट होनी ही चाहिए। विवाह खरीद–फरोख्त की चीज तो रहनी ही नहीं चाहिए। इस प्रकार की समस्याओं को शिक्षा द्वारा ही दूर किया जा सकता है। मूल्य या महत्व उसी शिक्षा का है जो विद्यार्थी के मस्तिष्क को इस तरह विकसित कर दे कि वह मानव जीवन की हर तरह की समस्याओं को ठीक–ठीक हल कर सकने में सक्षम हो सके।

विधवा विवाह के संबंध में पेडापाडु में उनका दिया गया भाषण सत्यवती नामक विधवा को समर्पित था जिसने अपने आभूषणों का त्याग देश सेवा के लिए किया था। उन्होने भाषण दिया कि आपका कर्त्तव्य है कि आप पर्दा प्रथा को तोड़े और यदि कोई विधवा पुनर्विवाह करना चाहती है तो इस काम में उसके माता–पिता की मदद करें। यदि 18 वर्ष का नौजवान विधुर पुनर्विवाह कर सकता है तो

फिर उसी उम्र की एक विधवा को यह अधिकार क्यों न मिले? स्वेच्छा से ग्रहण किया गया वैधव्य राष्ट्र की महान सम्पत्ति होती है, लेकिन जबरदस्ती अनजाने में थोपा गया वैधव्य एक कलंक है। हिन्दू समाज को ऐसी विधवाओं के लिए पुनर्विवाह के रास्ते खोल देना चाहिए। वस्तुतः उनका संघर्ष विधवाओं के पुनर्विवाह के प्रति अभिप्रेत न होकर बाल विवाह के उन्मूलन के प्रति केन्द्रित था।

वैश्यावृत्ति को एक सामाजिक बीमारी बताते हुए उन्होंने जोर देते हुए कहा कि यदि कोई इन महिलाओं की सहायता के लिए आगे नहीं आता तो इन्हें खुद परिवर्तन का वाहक बनना चाहिए तथा पुरुषों के हाथों अपने शोषण के खिलाफ संघर्ष करना चाहिए। देवदासी प्रथा को भी गाँधीजी ने नैतिक कोढ़ तथा ईश्वर की अवमानना के रूप में चिन्हित किया। तलाक प्रथा के संबंध में उनके विचार इस प्रकार थे कि जो स्त्री नरम मिजाज की है और विरोध नहीं कर सकती या विरोध करने को तैयार भी नहीं होती, तलाक की सुविधा अन्यायी पति से उसका कोई बचाव नहीं करती। इस तरह की ज्यादतियों का ईलाज कानून नहीं बल्कि स्त्रियों की सच्ची शिक्षा है और पतियों की तरफ से होने वाले इस तरह के अमानुषिक बर्ताव के खिलाफ लोकमत तैयार करना है। हिन्दू विवाह में पतियों द्वारा पत्नियों के प्रति किए गए अत्याचार के विरुद्ध प्राप्त कानूनी अधिकार जैसे पति को सजा दिलाना तथा उससे जीविका खर्च की प्राप्ति को वह सार्थक नही मानते। गाँधी जी ने कहा कि अनुभव मुझे बताता है कि सब मामलों में नहीं तो ज्यादातर यह ईलाज बिल्कुल बेकार है। इससे सदाचारिणी स्त्री को कोई राहत नहीं मिलती और पति के सुधार का सवाल असंभव नहीं तो कठिन जरूर बन जाता है क्योंकि अंत में तो समाज का और उससे भी ज्यादा पत्नी का लक्ष्य पति का सुधार करना ही होना चाहिए।[3]

महिला सशक्तीकरण की दिशा में उन्होंने लगातार प्रयास किया। उन्होंने कहा कि स्त्री त्याग की मूर्ति होती है। जब वह कोई कार्य शुद्ध और सही भावना से करती है तो पहाड़ों को भी हिला देती है। हमने अपनी स्त्रियों का सही उपयोग नहीं किया है, शायद हमने उनकी उपेक्षा की है लेकिन मुझे जरा भी शक नहीं कि भारत की स्त्रियाँ पुरुषों का छोड़ा हुआ काम पूरा करेगी और पुरुषों से कहीं अधिक खुबसूरती के साथ पूरा करेगी। स्त्री–पुरुष की समानता के संबंध में भी उनके विचार स्पष्ट थे। उनके अनुसार जहाँ तक स्त्रियों के अधिकारों का सवाल है, मैं कोई समझौता नहीं करुँगा। मेरी राय में उन्हें ऐसी किसी कानूनी निर्योग्यता का शिकार नहीं बनाया जाना चाहिए जो पुरुष पर लागू नहीं होती। मैं बेटे और बेटियों के साथ बिल्कुल एक जैसा व्यवहार करना चाहूँगा।[4] प्रकृति ने स्त्री–पुरुष को एक दूसरे का पूरक बनाया है। जिस प्रकार उनके शरीर के आकार को परिभाषित किया गया है उसी प्रकार उनके काम भी परिभाषित है।

उनके विचार में कानून बनाने का ज्यादातर काम पुरुषों के हाथ में रहा और इस स्वनिर्धारित काम को करते समय पुरुषों ने सदा औचित्य और विवेक से काम नहीं लिया। स्त्रियों के पुनरुद्धार का सबसे बड़ा काम यह है कि उन कलंकों को मिटा दे जिन्हें शास्त्रों ने स्त्रियों के लिए अनिवार्य और स्वभावगत लक्षण बताया है। नारी को अबला कहना उसकी मानहानि करना है। यह पुरुष का नारी के प्रति घोर अन्याय है। यदि बल का अर्थ पशुबल है तो बेशक स्त्री पुरुष से कमजोर है क्योंकि उसमें पशुता कम है और यदि बल का अर्थ नैतिक है तो स्त्री पुरुष से अनन्त गुनी श्रेष्ठ है। उसके बिना पुरुष का अस्तित्व संभव नहीं है। अगर अहिंसा हमारे जीवन का धर्म है तो भविष्य

नारी जाति के हाथ में है... हृदय को आकर्षित करने का गुण स्त्री से ज्यादा और किसमें हो सकता है।[5] इसी प्रकार अहिंसा के संबंध में गाँधी जी का विश्वास था कि अहिंसा के उच्चतम और सर्वोत्कृष्ट स्वरुप का प्रदर्शन करना स्त्री का जीवन लक्ष्य होना चाहिए क्योंकि अहिंसा के क्षेत्र में खोज करने और साहसिक कदम बढ़ाने के लिए स्त्री अधिक उपयुक्त है। आत्मत्याग का साहस पुरुष की अपेक्षा स्त्री में निश्चित रुप से कहीं ज्यादा होता है, ठीक उसी प्रकार जैसी की पशुता का साहस पुरुष में स्त्री की अपेक्षा ज्यादा होता है।

राजनीति में स्त्री सहभागिता को सम्मिलत करने का श्रेय महात्मा गाँधी को ही जाता है। गाँधी जी ने महिलाओं को सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करने का आह्वान किया जिसका उन्होनें अनुकूल प्रतिसाद दिया। गाँधी जी असहयोग आंदोलन में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी के पक्षधर थे। उनके विचार में जब तक महिलाओं का सहयोग नही मिलेगा तब तक स्वराज्य की आशा करना व्यर्थ था। वे महिलाओं के द्वारा निषेधात्मक तथा रचनात्मक कार्यक्रमों में सहभागिता की अपेक्षा रखते थे। इस कार्यक्रम में महिलाओं ने पूर्ण सहयोग दिया। सविनय अवज्ञा आंदोलन में गाँधी जी ने महिलाओं को स्थानीय स्तर पर हड़ताल करने, विदेशी वस्तुओं की दुकानों के सामने धरना देने और शांतिपूर्वक प्रदर्शन करने का कार्य सौपा था। उनकी योजना थी कि महिलाएँ दाण्डी यात्रा में भाग न लेकर स्थानीय स्तर पर हड़ताल, धरना तथा प्रदर्शन करे तो उनकी शक्ति का सही उपयोग हो सकता था। उनका विश्वास था कि ब्रिटिश सरकार महिलाओं के प्रति आक्रामक रवैया अपनाने में हिचकिचाएगी। उनके शब्दों में – जैसे एक हिन्दू गाय को प्रताड़ित नहीं कर सकता वैसे ही अंग्रेज जहाँ तक हो सकेगा महिला पर प्रहार नहीं करेगा।[6]

महिलाएँ घरों से निकलकर शराब की बिक्री के विरुद्ध सत्याग्रह में शामिल हुई और जेल गईं। समुद्र के पानी को उबालकर नमक बना देने, जुलूस निकालने तथा धरना देने जैसे साधारण कार्यों से समाज में महिलाओं की प्रतिष्ठा बढ़ी। पुलिस द्वारा उन्हें गिरफ्तार कर जेलों में बंद किए जाने से भी उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई तथा उन्हें राष्ट्रीय आंदोलन में अपनी भूमिका का भली–भाँति ज्ञान हो गया।[7] भारत छोड़ो आंदोलन में जब प्रमुख नेता गिरफ्तार हुए तो महिलाओं ने ही अपनी सक्रिय भूमिका से इस आंदोलन को जीवंत रखा। इस आंदालन में सुचेता कृपलानी, अरुणा आसफ अली तथा मृदुला साराभाई का अहम योगदान रहा। भूमिगत रेडियो स्टेशन की स्थापना की गई तथा इसका प्रसारण किया जाता रहा। ब्रिटिश कार्यवाही से बचने के लिए लगातार इसके प्रसारण केन्द्रों को परिवर्तित किया जाता रहा। इसमें मुबंई की एक छात्रा ऊषा मेहता का नाम उल्लेखनीय है।

इस प्रकार अपने विचारों और कार्यों से गाँधी जी ने महिला सशक्तीकरण का अभूतपूर्ण कार्य किया। गाँधी जी मानते थे कि महिलाओं को अपने उत्थान के लिए स्वयं सचेष्ट होना पड़ेगा। यह कार्य पुरुषों के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता। इसके लिए महिलाओं को स्वयं आना होगा। इस दिशा में यह भी ध्यान रखना होगा कि पुरुष आधिपत्य की बर्बर स्थितियों से मुक्त होने में वह अपनें स्त्रियोचित चारित्र के नैतिक वैशिष्ट को खो न दे। महात्मा गाँधी ने महिलाओं से संबंधित समस्त बुराईयों पर तीखा प्रहार किया तथा इस संबंध में अपनी सक्रिय भूमिका से महिलाओं में जागृति उत्पन्न की। महिलाओं को राजनीति में सक्रिय योगदान की ओर अभिमुख करने में इनकी प्रमुख भूमिका रही। इस दिशा में उनके कृतित्व ने महिलाओं को एक नयी ऊर्जा से परिपूर्ण

कर दिया जिसके प्रभावी परिणाम से सम्पर्ण देश लाभान्वित हुआ।

संदर्भ ग्रंथ

1. झा, राकेश कुमार, गाँधी चिन्तन में सर्वोदय, पोइन्टर पब्लिशर्स, जयपुर, 1995, पृ. 125
2. सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, खण्ड–41, पृ. 90
3. प्रभु, आर. के., समाज में स्त्री का स्थान, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1959, पृ. 28
4. हरिजन, 17 अक्टूबर, 1929, पृ. 340
5. यंग इंडिया, 10 अप्रैल 1930, पृ. 121
6. वोहरा, आशारानी, महिलाएँ और स्वराज्य, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1988, पृ. 207
7. गुप्त, विश्वप्रकाश एवं मोहनी, स्वतंत्रता संग्राम और महिलाएँ, नमन प्रकाशन, दिल्ली, 1999, पृ. 177

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUNE, 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

घण्टानाद का उद्भव एवं विकास

❒ डॉ. सूर्यनारायण गौतम

शोध सारांश

मानव जीवन में ध्वनि एवं नाद का अतिशय महत्त्व आदिकाल से ही माना जाता रहा है। इसका प्रारम्भ कब और कैसे हुआ यह तथ्य सर्वविदित नहीं है। जबकि इसका प्रयोग मानव जीवन मे नित्य किया जाता है। वेद हमारी ज्ञान परम्परा के शाश्वत निधि हैं। उनमें सृष्टि के कण–कण के लिए चिन्तन किया गया है। वेदों के ही चिन्तन मे एक ध्वनि और नाद का चिन्तन है जो संसारी जनों के लिए अत्यन्त उपादेय है। प्रस्तुत लेख में प्रचलित घण्टानाद का मानव जीवन मे उपयोगिता और उसके प्रभाव पर अध्ययन किया गया है।

भारतीय धर्म परम्परा के प्रवाह स्वरूप आज समूचे भारत वर्ष में ही नहीं विश्व में ही किन्हीं न किन्हीं रूपों में मूर्ति पूजा का व्यापक प्रचार है। यह कितना वैज्ञानिक है अथवा अवैज्ञानिक इस तथ्य पर वहस की यहाँ कोई गुंजाइश नहीं है। हाँ यहाँ पर यह देखा जा रहा है कि, हमारे ज्ञान के वैदिक स्रोतों की जड़े कहाँ तक जमीं हुई हैं। आज समाज में मकानों की ही भाँति निरन्तरता के साथ मन्दिरों का भी निर्माण हो रहा है। मनुष्य की ही तरह भगवानों की भी आबादी बढ़ रही है। जिस प्रकार आज जीवों की चौरासी लाख योनियों में से कितनी ही प्रजाति खोजी गई हैं उसी प्रकार भगवानों की भी जातियाँ और प्रजातियाँ बन रही हैं। समाज में प्रायः यह देखा जा रहा है कि, कुछ दिन पूर्व जो एक बहुत ही सामान्य व्यक्ति था वहीं आज भगवान् बनकर खड़ा है। भगवान बनने के बाद कुछ दिनों तक उसके वास्तविक स्वरूप के चित्र सामाने आते हैं और फिर कालान्तर में भक्तों की महती कृपा के परिणामस्वरूप वह राजाओं–महाराजाओं के वैभव से युक्त हो जाता है। इतना ही नहीं कालान्तर में उसके पीछे ऐसी कहानियाँ गढ़ दी जाती हैं कि, बड़े–बड़े पदों में बैठे लोग अपनी जान माल और आसन की रक्षा के लिए उसके नाम पर मन्दिर निर्माण और उस पर घण्टा लगाने की कसमें भी खाने लगते हैं। उस नये भगवान के मन्दिर का स्वरूप चाहे जो भी हो जाये पर उसमें घण्टा अवश्य ही जोरदार लगना आवश्यक हो जाता है। यह घण्टा क्यों लगाया जाता है? जिसका आधार

* वेदाचार्य, शासकीय वेंकट संस्कृत महाविद्यालय, रीवा (म.प्र.)

वैदिक संस्कृति माना जाता है। यही इस शोध का मुख्य विषय है।

वैदिक यज्ञों में दो प्रकार के देवों की आराधना करने का विधान किया गया है–1. चैतन्य तथा 2. जड़।

जड़ देवों में सूर्य चन्द्रमा वायु, अग्नि आदि तथा चैतन्य देवों में इन्द्र (राजा, सेनापति) वृहस्पति, (विद्वान्) वसु (धनपति) गावः = गौ इत्यादि। वेदों में ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव इत्यादि मन्त्रदृष्टा ऋषि के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं तथा कालान्तर में वही देवता का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। मन्त्रदृष्टा ऋषि होने के कारण ''विद्वान्सो वै देवाः''[1] अर्थात् विद्वान् ही देवता होता है इस ब्राह्मण वचन के अनुसार वे देवता हुए तथा कालान्तर में उनकी स्मृति में भव्य प्रासादों का निर्माण किया गया, जिन्हें आज मन्दिर कहा जाता है। मन्दिरों की शोभा में मुख्य आकर्षण का केन्द्र घण्टा को माना जाता है। मन्दिर में जो कुछ भी कलाकृतियाँ की जाती हैं वे मूक होती हैं किन्तु घण्टा जड़ होते हुए भी चैतन्य होता है। वह शान्ति के इच्छुक जनों के लिए शान्ति प्रदाता बनता है।

घण्टा की उत्पति असुरघ्नी वाक् का रूपान्तरण है। जिसके प्रारम्भिक रूप का वर्णन यजुर्वेद में किया गया है। आगे चलकर यही तथ्य कुछ विस्तार से ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

ब्राह्मणग्रन्थ वेदों के ही व्याख्यान हैं। जो वैदिक संहिताओं की यज्ञपरक व्याख्या करते हैं। यज्ञ के उन्हीं व्याख्यानों में ध्वनि का मानव जीवन में क्या प्रभाव होता है, इस विषय को दर्शाते हुए–

कुक्कुटोसि मधुजिह्व.....।।[2]

इस मन्त्र का आधार लेकर असुरघ्नी वाक् को खोजने का प्रयत्न किया जाता है। इस विषय में शतपथ का आख्यान है कि, पूर्वकाल में यज्ञ करते समय की प्रथा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि, जब कोई राजा या अन्य व्यक्ति यज्ञ का आयोजन करता था तो उस यज्ञ में या तो उसकी पत्नी हविष्कृत बनती थी अथवा पत्नी के अनुपस्थिति में कोई ऋत्विक् ही अध्वर्यु नामक ऋत्विक् के निमन्त्रण पर यजमान के स्थान पर हविष्कृत बनता था। इसीलिए यहाँ भी वह (पत्नी) कोई ऋत्विक उठता है। जब अध्वर्यु हविष्कृत को बुलाता है तो एक ऋत्विक दोनों शिलों को पीटता है। ऐसा शोर क्यों करते हैं? इसके लिए शतपथ का आख्यान है कि– महाराज मनु के पास एक बैल था। उसमें असुर को मारने वाली और शत्रु को मारने वाली वाणी थी। उस बाणी का नाम असुरघ्नी वाक् था। जब वह मनु का बैल हुँकारता और चिल्लाता तो असुर राक्षस उसकी आवाज को सुनकर मर जाते थे।[3] असुरों नें अपनी संख्या कम होते देख अन्वेषण किया और उस अन्वेषण में यह पाया कि, यह असुरों की मृत्यु का कारण मनु का बैल है। तब असुरों ने आपस में चर्चा करने के बाद कहा–

''यह बैल तो हमारा अनर्थ करता है, इसकी मृत्यु कर देनी चाहिए। किन्तु अब सबके पास प्रश्न यह था कि, इसको कैसे मारें ? क्योंकि उसके मुख से निकलने वाली वाणी के द्वारा बहुत से असुरों का पहले ही संहार हो चुका था। इसलिए असुरों का साहस छूट चुका था। उस समय असुरों के ऋत्विज थे–किलात और आकुली।

ये दोनों पुरोहित पुत्र उन असुरों से बोले– मनु श्रद्धालु हैं इस बात की परीक्षा करनी चाहिए।[4] तब वे मनु के पास आये और उनसे कहने लगे। हे मनु! हम आपके लिए यज्ञ करना चाहते हैं। मनु ने उनसे पूछा किससे यज्ञ करना चाहते हैं? उन्होंनें उत्तर दिया आपके इस बौल से। मनु ने उनकी इस बात को स्वीकार कर लिया और यज्ञ करने के लिए बैल दे दिया। उन दोनों ने बैल को ले जाकर मार दिया और यह समझ गये कि, हमारा शत्रु

मारा गया। किन्तु बैल के मरने के बाद वह वाणी वहाँ से अन्यत्र चली गई।

वह बैल से निकली हुई वाणी भ्रमण करती हुई मनु की पत्नी मनावी के भीतर घुस गई।[5] तब वे असुर उस मनावी की बातों को सुनते तो वे मृत्यु को प्राप्त हो जाते। इस बात से घबराकर असुरों नें कहा– यह तो और भी ज्यादा बुरा हो गया क्यों कि, बैल की अपेक्षा मनुष्य बहुत ही ज्यादा बोलता है। तब किलात और आकुली ने पुनः कहा– कि, संसार में मनु की बहुत कीर्ति है। सुना जाता है कि, वे बहुत ही श्रद्धालु हैं। इसकी परीक्षा पुनः की जाय। वे दोनों उनके पास जाकर पुनः कहने लगे। हम तुम्हारे लिए यज्ञ करना चाहते हैं। मनु ने पूछा अब किससे करना चाहते हैं? उन दोनों ने उत्तर दिया आपकी पत्नी से। उनकी बात को मनु ने पुनः स्वीकार कर लिया। महाराज मनु ने उन दोनों को यज्ञ करने के लिए अपनी पत्नी का दान कर दिया। किलात और आकुली मनु की पत्नी को एकान्त में ले जाकर वध कर दिया। उसके मर जाने के बाद वह वाणी निकल कर पुनः भाग गई। असुर पुनः कुछ दिनों के लिए निश्चिन्त हो गये।

इसके बाद जाकर वह वाणी पाँच पशुओं में समा गई। असुरों ने वहाँ भी उसे खोज निकाला और अपने स्वार्थ के लिए निरपराध प्राणियों की हत्या में रत हो गये। अब वह वाणी इस बार अचेतन में जाकर समा गई।[6] अचेतन में उत्तम थे यज्ञ पात्र। अतः वह वाणी यज्ञ और यज्ञ पात्रों में जाकर प्रविष्ट हो गई। अब इस बार वे दोनों असुर किलात और आकुली उसे न निकाल सके। यही असुर और शत्रुओं को मारने वाली वाणी इन यज्ञ पात्रों से निकलती है।

कालान्तर में यज्ञों के विधान नें विकृत रूप ले लिया। उसमें मारण, मोहन, वशीकरण आदि कुत्सित कर्म किये जाने लगे। जिसके चलते सभ्य समाज में यज्ञ को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। किन्तु उसकी वैज्ञानिकता को जड़ से नकारा नहीं जा सका। उन यज्ञों में निहित जो कल्याणकारी तत्व थे उनका रूपान्तरण कर तात्कालिक समाज वैज्ञानिकों ने समाज कल्याणार्थ उनके पूजास्थलों में अवस्थित करने का प्रयत्न किया।

मानव ही विवेकी और क्रियाशील प्राणी है। अतः वह अपने विवेक का प्रयोग श्रम में करता है। श्रम के पश्चात् विश्रान्ति की आपेक्षा उसमें स्वाभाविक गुण है। यह गुण केवल मनुष्य ही नहीं बल्कि समस्त प्राणियों में भी पाया जाने वाला गुण है। मनुष्य जो शान्ति पूर्वकाल में यज्ञों के द्वारा प्राप्त करता था यज्ञों के विकृत हो जाने के कारण वह शान्तिहीन होने लगा।

जिन देवताओं को वह वेद मन्त्रों से आवाहित कर उन्हें आहुति रूपी भेंट प्रदान करता था उसी का रूपान्तरण कर वह उन देवताओं की अपनी कल्पना के अनुसार तथा उन देवताओं के गुण और स्वभाव के अनुसार काल्पनिक मूर्तियों का निर्माण कर अपनी आराधना की पद्धति को अनवरत क्रियान्वित रखा।

यज्ञ ज्ञान, कर्म और उपासना का संगम है। यह मन, वचन और कर्म के द्वारा संपादित होता है। इसमें वेदत्रयी की अनुपम धारा का प्रवाह सदा प्रवाहित होता रहता है। इसमें ईश्वर, प्रकृति और जीव के संगम की वैज्ञानिक प्रक्रिया निहित है। अतः इस त्रैत के भाव को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए देवालयों में परकोटा, गर्भगृह और मूर्तिस्थल का निर्माण किया जाता है।

ये मन्दिर यज्ञस्थल के प्रतीक है। चूँकि, यज्ञ का स्वरूप अति विस्तृत है अतः संक्षेप में ही कहना पड़ रहा है कि, उस यज्ञमय मन्दिर में घण्टा यज्ञ पात्र है उसमें असुरघ्नी वाक् समाने की भावना है। वास्तविकता भी यही है कि, जब हम देवालय के

विशाल घण्टे को बजाते हैं तो उससे निकली हुई तरंगें। हमारी आसुरी प्रवृत्ति का संहार कर देती है, और कुछ क्षण के लिए ही सही किन्तु दैवी प्रवृत्ति की जागृति अवश्य हो जाती है।

महाभारत में भी एक प्रसंग के माध्यम से घण्टा या घण्टी के महत्व को दर्शाते हुए कहा गया है कि, युद्ध क्षेत्र में जहाँ असंख्य सेना आपस में भिडने के लिए तैयार खड़ी थी वही एक टिटहरी पक्षी ने अण्डे दिये थे। उस अबोध जीव को यह नहीं ज्ञात था कि यहाँ महाविनाश की लीला रची जा रही है। नियति को कुछ अलग ही मंजूर था। महाभारत के युद्ध से उस जीव का क्या लेना? उसकी रक्षा का उपाय प्रकृति ने स्वयं रचा और एक हाथी के गले की घण्टी टूटकर अचानक उन अण्डों के ऊपर गिर गई जिससे उनकी रक्षा हो सकी।[7] इससे यह सिद्ध होता है कि, महाभारत काल में घण्टी या घण्टे का प्रचलन अवश्य ही था।

घण्टा अथवा घण्टी का प्रयोग हमारे पूर्वज सदियों से करते आये हैं। जब मशीनरी युग नहीं था उस समय हमारे देश में हीं नहीं विश्व में कृषि का साधन बैल ही थे। उस समय बैलगाड़ी का व्यापक प्रयोग किया जाता था। बैलों के लिए कृषि का क्षेत्र रहा हो अथवा मालवहन का, बैलों की साज–सज्जा में घण्टी का प्रयोग अवश्य ही किया जाता था।

पुराणों में घण्टानाद की कथा शिव एवं पार्वती से जुड़ी हुई वर्णित की गई हैं जो अलंकारिक भाषा–शैली में होने के कारण अति रोचक हैं। यज्ञों में भी यजुर्वेद के एक मन्त्रांश को पढकर पत्थरों और यज्ञ पात्रों को अध्वयु पीटता है और उससे कहता है, तू मीठी वाणी से युक्त कुक्कट है वस्तुतः वह बैल देवों के लिए मीठी वाणी वाला और असुरों के लिए विषयुक्त वाणी वाला था। इसलिए वह कहता है। जैसा तू देवों के लिए था वैसा ही हमारे लिए हो।[8]

घण्टा दैवी संपदा का प्रतीक है। अतः जब हम उससे संबंध बनाते हैं तो हमें भी दैवी गुणों की प्राप्ति होती है। अतः मनुष्य का कर्तव्य है कि, अपने जीवन को उन्नत करने के लिए घण्टानाद को महत्व दे।

सन्दर्भ

1. शतपथ ब्राह्मण
2. यजुर्वेद संहिता
3. शतपथ ब्राह्मण
4. शतपथ ब्राह्मण
5. शत.ब्रा.का. (1.अ.1ब्रा.4क.)

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUNE, 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

गर्भस्थ शिशु और संस्कार

❒ डॉ. राजेन्द्र प्रसाद चतुर्वेदी
❒ डॉ. श्वेता सिंह

शोध सारांश

प्रसव निकट आने पर परिवार में चिन्ता होना स्वाभाविक है। इस अवसर पर धार्मिक प्रार्थना की जाती है। इसके प्रमाण ऋग्वेद के निम्नलिखित तीन मंत्रों में मिलते हैं, जिन्हें सायण ने गर्भस्त्रविण्योपनिषद् की संज्ञा दी है।

यथा वातः पुष्करिणीं समष्यति सर्वतः।
एवा ते गर्भ एजतु निरैतु दशमास्यः।
यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति।
एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा।
दश मासांछशयानः कुमारो अधि मातरि।
निरैतु जीवो अक्षतौ जीवो जीवन्त्या अधि।[1]

''वायु जिस प्रकार सरोवर आदि को संचालित करती है, उसी प्रकार तुम्हारा गर्भ संचालित हो। दस मास के अनन्तर गर्भस्थ जीव निर्गत हो। वायु, वन और समुद्र जिस प्रकार कम्पित होते हैं, उसी प्रकार दस मास पर्यन्त जननी के जठर में अवस्थित जीव जीवति तथा अक्षत रूप से जीविता जननी से उत्पन्न हो।''

अथर्ववेद में भी एक सूक्त सोष्यन्ती–कर्म से संबन्ध रखता है। होता पूषण, एक ऋग्वेदीय देवता को सम्बोधित करता है। सूक्त में अन्य देवियों का उल्लेख है, अर्थात् सुषण, सूषणा और बिष्फला। सायण के अनुसार सूषण ''प्रजननयित्री, देवता'' और सूषणा एवं बिष्फला, दोनों ''सुखप्रसवकारिणी'' देवियाँ हैं। उक्त इस प्रकार है–

वषट ते पूषन्नस्मिन्त्सुतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः।
सिस्त्रतां नार्यतप्रजाता विपर्वाणि जिहतां सूतवा उ।।
चतस्त्रो दिवः प्रदिशश्चतस्त्रो भूम्या उत।
देवा गभे समैरयन्तं ब्युर्णुवन्तु सूतवे।।
सूषा व्यूर्णोतु वि योनिं हा पयामसि।
श्रथया सूषणे त्वमत त्वं बिष्फले सृज।।
नेव मांसे न पौवसि ने मज्जस्वाहतम्।
अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जरायत्तवेऽव जरायु पद्यताम्।।
वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके।
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाव जरायु पद्यताम्।।

* प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष (संस्कृत), शास. टी.आर.एस. महाविद्यालय, रीवा (म.प्र.)
** एम.ए., एम.फिल, पी.एच्.डी. (संस्कृत) शास. टी.आर.एस. महाविद्यालय, रीवा (म.प्र.)

यथा वातों यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः।
एवा त्वं दशमास्य साकं, जरायुणा पताव जरायु पद्यताम।।[2]

हे पूषन! प्रसूति के इस अवसर पर विद्वान और श्रेष्ठ (अर्यमा) होता तेरा यजन करे। नारी भली–भाँति शिशु का प्रसव करे। स्त्री के शरीर के सन्धिस्थान प्रसव करने के लिए विशेष रूप से ढीले हो जाएँ। द्युलोक की चार दिशाएँ हैं तथा जिस प्रकार भूमि को चारों दिशाएँ घेरे हुए हैं, उसी प्रकार गर्भ भी चारों ओर से घिरा हुआ है। देव उसे गति देते हैं। वे ही प्रसूति के लिए उसे गर्भाशय से बाहर करें। सुख–प्रसविनी स्त्री जब अपने गर्भ को बाहर करती है, तो हम उसकी योनि को विस्तृत करते हैं। हे सूषणे! तू अपने को श्लथ छोड़ दे। हे बिस्कले! तू गर्भ को नीचे की ओर प्रेरित कर। जरायु न तो मांस में, न बसा में और न मज्जा में ही सटा रहता है। वह अंग के अभ्यन्तर को स्पर्श करने वाला, जल में उतराने वाले शैवाल या सरोवर के समान जरायु कुत्ते आदि के खाने के लिए बाहर आवे। मैं तेरे मेहन अथवा मूत्र द्वार को भिन्न करता हूँ। योनि मार्ग में स्थित दो नाड़ियों को पृथक करता हूँ। जिस प्रकार वायु, मन तथा पक्षी बाहर निकलकर उड़ने लगते हैं, उसी प्रकार दस माह पर्यन्त गर्भ में रहने वाले शिशु! तू जरायु के साथ बाहर आ जा, जरायु भी बाहर आवे। वृहदारण्य–कोपनिषद् में ऋग्वेद के मंत्रों का किंचित् परिवर्तित रूप मिलता है।

सोष्यन्तीमभ्दिरब्भ्युक्षति ।
यथा वातः पुष्करिणीं समिष्यति सर्वतः।।
एवा ते गर्ब्भ एजतु सहावैतु जरायुणा।
इन्द्रस्यायं व्रजः कृतः सग्र्गऽसपरिश्रयः।।
तमिन्द्र निर्ज्जहि गर्ब्भेण सावरां सहेति।।[3]

प्रसवकाल में प्रसव करने वाली स्त्री के ऊपर यथा वायु इत्यादि मन्त्र पढ़कर जल छिड़के। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है–

जैसे वायु पोखरी के जल को सब ओर से चंचल कर देती है, उसी प्रकार तेरा गर्भ अपने स्थान से चले और जरायु के साथ बाहर निकले।

इन्द्र (प्रसूति वायु) के लिए यह योनि रूप मार्ग निर्मित हुआ है जो अर्गला गर्भवेष्टन (जरायु) के साथ है। इन्द्र! (प्रसव वायु) उस मार्ग पर पहुँच कर तुम गर्भ एवं मांसपेशी के साथ बाहर निकलो।

जातकर्म–

ऋग्वेद के दो स्थलों में नवजात शिशु के स्नान का उल्लेख है। शिशु जज्ञानं हयतं भृजन्ति–बच्चे के पैदा होने के बाद उसे स्नान कराया जाता था।[4]

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार नाभि काटने से पहले पाँच ब्राह्मणों को शिशु के ऊपर श्वास फूँकना चाहिए। पिता ब्राह्मणों को बच्चे के चारों ओर खड़ा करता है। वे ब्राह्मण एक के बाद दूसरा क्रमशः बच्चे पर श्वास फूँकते हैं। यदि ब्राह्मण उपलब्ध न हों तो पिता स्वयं शिशु पर स्वास फूँकता है–

यद्यु तान्न विन्देदपि स्वयंमेवानुपरि
क्क्रामनुप्राण्प्यात्त्सः।[5]

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार जुड़वे बच्चे अशुभ माने जाते थे और उनके लिए प्रायश्चित भी करना पड़ता था।

यस्य भार्या गौः वा यमौ जनयेत्
का तत्र प्रायश्चित्तम।[6]

''यदि किसी स्त्री अथवा गाय के जुड़वाँ बच्चे पैदा हो जाएँ तो इसका क्या प्रायश्चित है।''

वृहदारण्यकोपनिषद् में जातकर्म संस्कार के अंतर्गत नामकरण और स्तन–प्रदान की विधियों का वर्णन किया गया है।

प्राशन–

पुत्र जन्म होने पर पुत्र का पिता अग्निस्थापन करके पुत्र को गोद में लेकर और काँसे के कटोरे में दधिमिश्रित घृत रखकर दही को घी में मिलाकर

उसका थोड़ा–थोड़ा सा अंश लेकर अग्नि में आहुति देता था और शिशु के दाहिने कान को अपने मुख के पास लाकर वाक् शब्द का उच्चारण करता था। तत्पश्चात् शिशु को दही और मधु खिलाया जाता था।

अथ दधि मधु घृतं।
संनीयानन्तर्हितेन जातरूपेण प्राशयति।[7]

'वाक्' शब्द के उच्चारण के बाद दही, मधु और घी एक में मिलाकर उसे दूसरे धातुओं के मेल से रहित विशुद्ध सोने की चम्मच से बालक को चटावे।''

गुप्त नामकरण–

नामकरण का एक संस्कार के रूप में वर्णन किया गया है और इसमें एक गुप्त नाम की भी चर्चा है। नाम व्यक्ति का प्रतीक है– इसलिये ऋग्वेद में दास का नाम नष्ट करने का उल्लेख है–

अव क्ष्णौमि दासस्य नाम चित्।।[8]

वेदों में गुह्य नाम का महत्व इसलिये समझा गया कि इससे एक रहस्यमय शक्ति मिलती थी। देवताओं के भी गुह्य नाम माने जाते थे–

देवो देवानां गुह्यानि नामऽविष्कृणोति।।[9]

गुप्त नाम जानने से सामर्थ्य बढ़ता है, इसलिये वरूण गुह्य नामों की जानकारी रखते हैं।

स्तन प्रदान–

बालक को गुप्त नाम देने के बाद पिता बालक को माता की गोद में देकर यस्ते स्तन इत्यादि मन्त्र पढ़ते हुए स्तन पिलावे।

उपनिषद् का पाठ इस प्रकार है उसमें सरस्वती को इस प्रकार संबोधित किया जाता है–

हे सरस्वति! तुम्हारा जो स्तन दूध का अक्षय भंडार तथा पोषण का आधार है, जो रत्नो की खान है तथा सम्पूर्ण धन–राशि का ज्ञाता और उदार दानी है तथा जिसके द्वारा तुम समस्त वरणीय पदार्थों का शोषण करती हो इस सत्पुत्र के जीवन धारणार्थ उस स्तन के साथ मेरी पत्नी के शरीर में प्रविष्ट होकर इस शिशु के मुख में दे दो।

यस्ते स्तनः शशयोः यो मयोभूर्यो रत्नाधा।
वसुविद् यः सदत्रः। येन विश्वा पुष्यति
वार्याणि सरस्वति तमिह श्चातवे करिति।।

संदर्भ स्रोत :–

1. ऋग्वेद 5, 68, 6–9
2. अथर्ववेद सूक्त 1,11
3. बृहदारण्यकोपनिषद् 6, 4, 23
4. ऋग्वेद (9,66, 17, समानान्तर स्थल 9,109,12)।
5. शतपथ ब्राह्मण (11,8,4,6,)
6. ऐतरेय ब्राह्मण (6,2,9)
7. बृहदारण्यकोपनिषद् (6, 4, 25)
8. ऋग्वेद (10, 23, 2)
9. ऋग्वेद (9, 95, 2)

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUNE, 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

रीवा राज्य का सांस्कृतिक विकास

❐ डा. सुधा सोनी

शोध सारांश

भारत के मध्य में स्थित रीवा नगर का भौगोलिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक इतिहास अत्यन्त गौरवपूर्ण रहा है। धर्म एवं संस्कृति के विस्तार में इस क्षेत्र ने कई आयाम स्थापित किये हैं। रीवा राज्य कला एवं संस्कृति का वाहक रहा है। रीवा से लगे बघेलांचल ने रीवा को विश्व स्तर पर पहचान बनाने का अवसर प्रदान किया। बघेल नरेशों की छत्रछाया में रीवा नगर का चहुँमुखी विकास हुआ। बघेल महाराजा मार्तण्ड सिंह जूदेव द्वारा सफेद शेर की सौगात विश्व स्तर पर भारत द्वारा स्थापित हुई। वर्तमान समय में पुनः सफेद शेर की वापसी से 'सफारी टाइगर' के रूप में रीवा नगर विकसित नगर के रूप में उभरकर विश्व के समक्ष आयेगा।

भारत के मध्य में स्थित रीवा नगर बघेलखण्ड का अत्यन्त अर्वाचीन काल से प्रतिनिधित्व करता आ रहा है। यह नगर भारत के प्राचीनतम नगरों में से एक है। यहाँ की अपनी विशिष्ट ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, सामाजिक–सांस्कृतिक विरासतें एवं परम्पराये हैं। रीवा नगर भारत के मानचित्र में 24°32′ उत्तरी अक्षांश तथा 81°24′ पूर्वी देशान्तर पर स्थित है। इस नगर के दक्षिण पूर्व की ओर बिछिया और दक्षिण पश्चिम में आती बीहर नदी है।[1] रीवा नगर पूर्व रीवा रियासत की राजधानी रहा है। इसके उत्तर में बांदा और इलाहाबाद जिला एवं मिर्जापुर जिला दक्षिण में मध्य प्रदेश का सीधी जिला एवं मिर्जापुर जिला, दक्षिण में मध्य प्रदेश का सीधी जिला और दक्षिण पश्चिम में सतना जिला स्थित है। यह विन्ध्य पठार का बड़ा हिस्सा है।

मुस्लिम सत्ता की स्थापना के पूर्व यह क्षेत्र महाकौशल चेदि देश या 'डाहाल देश' आदि नामों से सम्बोधित किया जाता था। मुस्लिम ऐतिहासिक ग्रंथों में इस क्षेत्र को 'भट देश' या 'भट गोड़ देश' कहा गया है।

विन्ध्य पर्वत पर स्थित रीवा राज्य का इतिहास गरिमामय रहा है। रीवा के निकट ही भरहुत एवं देउर कोठार के दो ऐतिहासिक बौद्ध स्तूप है। जिनसे स्पष्ट है कि यह क्षेत्र किसी समय इतिहास प्रसिद्ध महान मौर्य साम्राज्य का अंग था। शुंग

* प्राध्यापक (इतिहास), शासकीय कन्या महाविद्यालय, रीवा (म.प्र.)

राज्य के पश्चात ईशा की चौथी, पांचवी शताब्दी में यह क्षेत्र गुप्तों के अधीन रहा, जिसके पश्चात इस क्षेत्र में कल्चुरि, चेदि और हैहय वेश के राजाओं ने राज्य किया। ईशा की 12वीं शताब्दी तक कलचुरि राजा इस क्षेत्र के भाग्य विधाता रहे, इसके बाद लगभग 100 वर्षों तक यह क्षेत्र चौहानों, सेंगरों तथा गोड़ों के अधीन रहा। 13वीं शताब्दी में इस क्षेत्र पर 'बघेल' राजपूतों का आधिपत्य स्थापित हुआ। गुजरात के पांचवे सोलंकी राजा भीमदेव के चौथे पुत्र सारंगदेव के पुत्र वीर सिंह के सुपुत्र का नाम 'बाघराव' था, गुजरात के शासक सिद्धराज जय सिंह (वि.स. 1550–1199) ने बाघराव को जागीर में 'बघेला' गांव दिया था, जिसके आधार पर बाघराव की संताने 'बघेल' नाम से विख्यात हुई। बाघदेव जिन्हें 'व्याघ्रदेव' के नाम से सम्बोधित किया जाता है, ने कालिन्जर से 16 मील उत्तर पूर्व की ओर पहाड़ी पर चन्देलों के रिक्त दुर्ग मरफा पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और उन्होंने अपने रक्षार्थ अपने साथ आये हुये लोगों की जो बस्ती बसाई उसका नाम बघेल पारी पड़ गया। व्याघ्रदेव का प्रभुत्व इस किले के उत्तर में 15 मील बघेल भवन और दक्षिण में 15 मील 'बघेलन नाला' तक था। उस समय दिल्ली के सिंहासन पर कोई सुदृढ़ शासक नहीं था, इसलिये व्याघ्रदेव से किसी ने छेड़छाड़ नहीं की।[2]

रीवा में बघेलों का पहला राजा विक्रमादित्य (विक्रमाजीत) हुआ। एकत्र बान्धोगढ़[3] में विक्रमादित्य को राजा कहा गया है। राजा विक्रमादित्य ने रीवा के बीहर एव बिछिया के संगम पर स्थित अपूर्ण किला, जिसे इस्लाम शाह (जलालखा) ने अपूर्ण छोड़ दिया था, को पूर्ण कराकर वहाँ अपनी राजधानी स्थित किया।[4] यद्यपि विक्रमाजीत को परम्परागत 'राजा' उपाधि से सम्बोधित किया गया है, तथापित उन्हें मुगल आलेखों में जागीरदार भी कहा गया है।[5]

समकालीन साहित्य और आलेखों से राजा के परम्परागत कर्तव्यों पर प्रकाश पड़ता है। राजा का परम कर्तव्य प्रजा व देश (राज्य) की रक्षा करना होता था। वह अपने कार्य में सामान्त सरदार वृद्ध एवं अनुभवी मंत्रियों से सलाह लेता था। राजा विक्रमादित्य बादशाह जहाँगीर का समकालिक था।

राजा विक्रमादित्य के काल में रीवा किले का निर्माण आवश्यकता के अनुरूप किया गया। नदी एवं प्रकार से लगे घिरे क्षेत्र में राज–प्रसाद व प्रशासकीय कार्यालयों का निर्माण किया गया। राजा एवं उसके परिजन और सेवक सेविकाएँ इसी क्षेत्र में रहते थे। यह क्षेत्र, जल परिखा के अतिरिक्त नगर–प्रकार से घिरा था।

नगर–प्राकार को दक्षिण की ओर बढ़ाकर नगरीय बसाहट की व्यवस्था की गई थी। नगरीय बसाहट को नगर प्रकार के अतिरिक्त जल परिखा से भी सुरक्षित किया गया था। इस जल परिखा का निर्माण दक्षिण–पूर्व में बिछिया नदी से एक कृत्रिम जल प्रणाली का बहाव कर किया गया था, जो नगर–प्राकार को घेरती हुई, अन्ततः बीहर नदी में मिल जाती थी।[6]

इस उपरहटी नगर की देखरेख के लिए कोटपाल (कोतवाल) नामक अधिकारी होता था। समकालीन शासन व्यवस्था के अनुरूप यहाँ बघेलों के नगरीय शासन तंत्र में कोटवाल के अतिरिक्त महत्तम भी रहता रहा होगा। नगर की व्यवस्था में इन दो प्रमुख अधिकारियों के अतिरिक्त अन्य लघु कर्मचारी रहते रहे होंगे, जिनकी स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती। कालान्तर में इस उपरहटी नगर का जब विकास हुआ तब तरहटी व नगरिया की संरचना की गई। नगरिया के विषय में राम प्यारे अग्निहोत्री ने लिखा है महाराजा विक्रमादित्य ने रीवा किले का नव निर्माण कराकर रीवा नगर की अपनी राजधानी बनाया उन्होंने कोट का निर्माण

कराया और उससे लगी हुई विशाल परिखा भी बनवाई।

विक्रमादित्य के समय से अजीत सिंह के समय तक यह नगर बराबर विकसित होता रहा। फलतः इस नगरी की व्यवस्था के लिए अधिकारियों एवं कर्मचारियों की संख्या भी बढ़ी।

राज्य में राजा का बड़ा पुत्र युवराज होता था, जो राजा के शासन कार्य में सहायक होता था और राजा के बाद वही राजा बनता था। युवराज के अतिरिक्त अन्य राजकुमारों को उनके निर्वाह के लिए इलाका दिया जाता था, जो अपने इलाके का शासन प्रबंध देखता था। पुत्र रहित इलाकेदार का इलाका पुनः राज्य में सम्मिलित कर लिया जाता था।

बघेल राजा की मंत्रणा परिषद् का प्रमुख दीवान होता था। दीवान राजा के बाद प्रमुख अधिकारी होता था, जिसकी स्वयं राजा अपनी इच्छा के अनुरूप करता था। दीवान राजा को परामर्श देता था और राज्य शासन की देखरेख करता था। वह पूर्णतया राजा के प्रति उत्तरदायी होता था।

प्रशासकीय प्रबंध कोटपाल (नगराध्यक्ष) करता था। राज्य में छोटे–मोटे कस्बों को छोड़ गांवों की संख्या ही अधिक थी। गांव की प्रशासन पंचायत की देखरेख में चलता था। यह पंचायत कई गांवों को मिलाकर बनती थी।

गांव सामान्यतया दो प्रकार के थे सामान्य गांव जिसमें प्रायः सभी जातियों के लोग थे, दूसरे वन प्रान्तर के गांव, जिसमें जंगली जातियां निवास करती थी। सभ्यता से परे इन जंगली गांवों के अपने मुखिया होते थे, जो गांव की व्यवस्था करते थे। रामप्यारे अग्निहोत्री ने लिखा है कि राज्य में कुल 6416 गांव थे। जिनमें 1432 गांव कोठार, 2164 गांव इलाकेदारों के, 167 गांव अदेन 138 गांव जागीर में महारानियों के, 121 गांव धमार्थ में मंदिरों के, 269 गांव जगीरदारों की सेवा के बदले में थे।[7] रीवा राज्य में ग्रामीण जमा वसूली के लिए कहीं–कहीं ठेकेदार और कहीं मुकद्दम होते थे। जमा वसूली के लिए प्रायः राज्य के गांवों को ठेके पर ठेकेदारों को दे दिया जाता था।

हिस्सावाट में जेठ पुत्र को अन्य पुत्रों से अधिक हिस्सा मिलता था। परिवार में पिता के बाद जेठ पुत्र ही परिवार का मालिक माना जाता था।

समाज में स्त्रियों की स्थिति संतोषप्रद कही जा सकती है, पर अच्छी नहीं। सामान्यता स्त्रियां पुरूषों पर निर्भर होती थी। पत्नी अपने पति की आज्ञाकारिणी होती थी। 'संग्रहणी' स्त्रियों का अस्तित्व भी था। धनी एवं प्रभावशाली परिवारों में बहू विवाह की प्रथा प्रचलित थी। पर्दा प्रथा प्रचलित थी। सती प्रथा भी अस्तित्व में थी। सवर्णो में विधवा विवाह का प्रचलन न था। नियोग प्रथा समाप्तप्राय थी। वेश्या प्रथा की जड़ बढ़ती जा रही थी। समकालीन समाज में कला और साहित्य का विकास आवश्यकता के अनुरूप अपनी गति पर थी कला मध्यकालीन प्रवृत्तियों से ग्रस्त था। उसमें ललित परक मौलिकता का अभाव था।

रीवा के राजाओं के इस काल में इस शैली के अनेक अन्य मंदिरों का निर्माण हुआ। समय के साथ इन मंदिरों के निर्माण की विधि और शैली क्रमशः घटिया होती चली गई। इनमें पत्थर के साथ यत्र–तत्र ईटों का भी प्रयोग होने लगा। ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ पत्थर घट गया वहाँ ईंटों का प्रयोग कर लिया मंदिर मात्र उत्तर मध्यकालीन पतली ईंटों से भी निर्मित किये गये हैं।

इस अंचल की आर्थिक संरचना बहुत कुछ कृषि पर निर्भर थी और कृषि भूमि पर निर्भर थी। यहाँ की लगभग सारी भूमि कोठार व पवाईयों में बँटी थी। इसलिए भू–स्वामित्व किसी और के पास

था और कृषि उपज श्रम एवं श्रमिकों पर आधारित था। भू–सरंचना की दृष्टि से इस राज्य का अधिकांश भू–भाग पठारी है।

पठारी नदियाँ उपरहार से तलहार को प्रवाहित होती हैं और यहाँ का सारा जल अपनी तीव्रगामी प्रवाह में समेटकर तलहार में उतारती हैं, जहाँ वे भू–संरचना की दृष्टि से सहम कर बहती हैं। यह कारण है कि तलहारी क्षेत्रों में उपज अधिक होने से वहाँ पर जनसंख्या का घनत्व अधिक मिलता है।

यहाँ की अर्थ व्यवस्था मूलतः कृषि पर आधारित थी। यह आजीविका का प्रमुख साधन था। भू–क्षेत्र राज्य का मौलिक संसाधन था। परम्परा से कोठार पवाईयों आदि में बँटी थी।

भू–राजस्व की समस्या के निराकरण हेतु भू–सर्वे एवं बन्दोबस्त आवश्यक था। इस संदर्भ में डी.डब्लू.के. बार ने लिखा है कि ''राजस्व सर्वेक्षण रीवा राज्य के लिए अत्यावश्यक है।''

देखा जाय तो रीवा राज्य की भू–व्यवस्था पर ब्रिटिश प्रभाव का पड़ना 1812 ई. की सन्धि के बाद से शुरू हो गया था। 1857 ई. में जब ब्रिटिश पोलिटिकल एजेण्ट इस राज्य में नियुक्त हुआ तब यह प्रभाव बढ़ना शुरू हुआ। इसी समय में मुन्तजिमी कायम होने पर और 1880 ई. में सुप्रिन्टण्डेण्टसी कायम होने पर ब्रिटिश भारत के तौर तरीके, रीवा राज्य की माल गुजारी के सभी क्षेत्रों में लागू हुये।

बन्दोबस्त यहाँ की ग्रामीणजन के आर्थिक कल्याण में कारगर सिद्ध हुये। रीवा राज्य राजस्व विभाग के संचालन हेतु ब्रिटिश सरकार ने राजस्व नियम, अधिनियम एवं संहिता का निर्माण करवाया। फलतः राज्य में रेवेन्यू मैन्युअल तथा कानून माल और पवाई रूल्स आदि बनोय गये।

जमीन पर बांध बनाने के लिये किसानों को 55/45 का हक प्रदान किया गया। सरकार ने स्वयं भी बांधों का निर्माण करवाया।

लगान विकसित क्षेत्रों में 50 प्रतिशत तथा अविकसित क्षेत्रो में 50 प्रतिशत तथा अविकसित क्षेत्रों में 33.5 प्रतिशत बढ़ाई गई। पहले अबवाब जैसे दईजावन, चयारी, बयाई, बोकरा–पिछौरी, चौकीदारी आदि का प्रचलन था। इनमें से दइजावन और बोकर–पिछौल समाप्त कर दिये गये तथा बयाई व चयारी को लगान में शामिल कर लिया गया। इन्य अबवाब भी समाप्त कर दिये गये।

इस राय के 88 प्रतिशत भू–भाग पर वन फैले हुए थे। यह राज्य वन संसाधनों व भू–गर्भिक संसाधनों से भरा पड़ा है, जिसका किंचित दोहन राज्य काल में हुआ और राज्य का राजस्व बढा। इसके अतिरिक्त रीवा राज्य में भेंट, उपहार व नजराने की परम्परा निश्चित होते थे, जो महाराजा के आगमन, युवराज–युवराज्ञी या राजकुमार–राजकुमारी के विवाह पर, महाराजा या युवराज के वर्षगांठ पर या दशहरा सर्व पर राज्य को दिये जाते थे।[8]

राज्य की सामाजिक आर्थिक संरचना में कृषि के बाद विविध उद्योगों एवं घरेलू उद्योग धन्धों तथा वाणिज्य एवं व्यवसाय सघन था।[9]

इस राज्य में विविध धातुओं के उद्यम परम्परागत ढंग से प्रचलित थे, जिनमें लोहारी उद्योगपति पर था। लोहार खेती के उपकरण व सरौता आदि घरेलू उपकरण बनाने में दक्ष थे। जीतन सिंह ने लिखा है कि ''खेती के काम के लिए यहाँ के लोहार अपरिहार्य थे। प्रति बड़े–बड़े गाँवों या चार छोटे–छोटे गांवों के बची एक लोहार अवश्य रहता था। रीवा राज्य के लोहार अच्छे सरौते (रामनगर, अमरपाटन, सेमरिया) फर्सा (सिंगरौली), तरीकाफल (सोहागपुर) टांगी (सेमरिया, रघुराजनगर) तथा टांगा (कटनी गांव, जियावन, रामगढ़, गढ़वा, हिनौती, खन्नौधी, मड़वास, सोहागपुर) चाकू, छूरे (रायपुर, रामनगर, अमरपाटन, बैकुन्ठपुर, सेमरिया) इत्यादि

बनाने में पारंगत थे।[10] इसी प्रकार तमेरे विविध प्रकार के बर्तन व सुनार आभूषण बनाते थे।

समाज में बढ़ई व कुंदेर काष्ठ की कारीगरी से अपनी जीविका चलाते थे। बढ़ई हल, पाट, खुरपी आदि खेतों के औजार व बैलगाड़ी, छकड़े, चारपाई पटा, कठौता, गिन्नी आदि बनाते थे। कुंदेर सागौन, आबनूस, दुधिय आदि लकड़ियों को कूंदकर विविध प्रकार के समान बनाते थे। यहाँ पर हुक्के की निकाली व साठा रूल, छड़ी शतरंज व चौपड़ की गोटियाँ अच्छी पाई जाती थी। इन समानों पर लाख के लाल पीले रंग चढ़ाने की कला में यहाँ के कुंदेर पारंगत थे। लखेरा जाति के लोग लाख का समान विशेषकर कंठी, कठुला आदि गरीब तबकों के आभूषण बनाते थे। कुम्हार मिट्टी के बर्तन बनाता था। तेली तेल पेरेने का कार्य करता था।

रीवा राज्य में वस्त्र उद्योग अपनी गति पर था। समाज में कोरी, जुलाहे पनिका जातियाँ इसी उद्योग पर जीवन–यापन करती थीं। 1911 ई. की जनगणना में 46,886 व्यक्ति इस वस्त्र उद्योग में लगे थे।

राज्य में अनेक राज्य संरक्षित उद्योग भी चलते थे। राज्य द्वारा चलाये जाने वाले उद्योगों में कपड़ा कारखाना, चमड़े का कारखाना, चीनी कारखाना, तेल कारखाना, रेशम कारखाना आदि। इनमें से अधिकांश कारखाने रीवा स्थित बोदाबाग में थे। अन्य अनेक राज्य में यत्र–तत्र सर्वत्र चलते थे।[11]

गाँव विविध घरों के समूह थे, जिनमें 5 से 10 घर और 100 से 2000 घर भी हो सकते थे। समाज दो वर्गों में बँटा था– (1) उच्च वर्ग, (2) निम्न वर्ग। उच्च वर्ग के लोगों के घर विस्तृत भाग पर बने होते थे। निम्न वर्ग के लोगों के घर छोटे साधारण और घास–फूंस तक के बने होते थे। उच्च वर्ग के लोग सामान्यतया समाज का शोषण एवं भोग करते थे और निम्न वर्ग के लोग सामान्तया समाज का शोषण एवं भोग करते थे। और निम्न वर्ग के लोग अपने व्यवसायों द्वारा उच्च वर्ग की सेवा करते थे। ये लोग अपने घर गृहस्थी संबंधी कार्यों के लिए आत्मनिर्भर होते थे। प्रायः सामान्य ग्रामवासी हल बनाना, रस्सी बनाना, खरिया, मुश्का, गेराई जाली आदि के साथ ही छप्पर बांधना कुआ खोदना।

यहाँ के लगभग 75 प्रतिशत व्यक्तियों का प्रधान धंधा कृषि और पशुपालन था।[12]

यहाँ के लगभग 75 प्रतिशत व्यक्तियों का प्रधान धंधा कृषि और पशुपालन था।[13]

अनाज के अतिरिक्त व्यावसायिक फसलों की खेती भी राज्य में की जाती थी। त्योंथर, सोहागपुर तथा वर्दी व मऊगंज तहसीलों में अफीम की खेती की जाती थी। किसानों को इसकी खेती के लिए लायसेंस दिये जाते थे। अंग्रेजी शासन ने अफीम की खेती को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया।

महाराजा गुलाब सिंह ने राज्य की कृषि व्यवस्था के उत्थान पर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने कृषि विकास के लिए 1931 में कृषि विभाग की स्थापना की। इस विभाग ने पड़रा में कृषि फार्म शुरू किया। तदन्तर 1945 ई. में 'डायरेक्टर आफ एग्रीकल्चर' को नियुक्ति किया।

वनोपज की सुरक्षा के लिये राज्य में 1880 में वन सरंक्षण परम्परा का विकास किया गया।[14]

वनों से लाख के उत्पादन में हजारों कोल व बैगा जाति के लोग लगे थे। रीवा के जंगलों से प्रायः 5000 मन कत्था हर साल उत्पन्न होता था। यहां से अहरौरा व मिर्जापुर कत्था भेजा जाता था।

राज्य में लमानों एवं बंजारों द्वारा आंतरिक एवं बाह्य व्यापार होता था। लमाने माल लादकर राज्य भर में भ्रमण करते थे। ये राज्य सरकार और इलाकेदारों को जकात और चुंगी जैसा व्यापारिक

कर देते थे। इस कर के बदले में उन्हें सुरक्षा दी जाती थी। बाद में जकात समाप्त कर दिया गया और परमिट प्रणाली लागू की गई।

1927 ई. में टमस पर चाकघाट का पहला पुल बना। गुढ़ से गढ़ी पहाड़ पारकर एक ढर्रा चुरहट के लिए बना। इसी समय देवसर से बैढ़न–सिंगरौली के लिए सड़क बनी। महाराज गुलाब सिंह ने अपने शासन काल में सड़कों के सुधार एवं निर्माण पर विशेष ध्यान दिया।[15]

कृषि के व्यावसायीकरण से भू–राजस्व अवश्य बढ़ा, पर यह बढ़ों की व्यवस्था में सिमट कर रह गया। किसानों का शोषण पहले से अधिक बढ़ गया। कृषि के पतन से किसान भूमिहीन मजदूर हो गए मजदूरों की संख्या बढ़ी। भूमि पर उनका बोझ बढ़ा। इस बोझ ने वित्त व्यवस्था को विकृत कर दिया।

सन्दर्भ–सूची

1. जीतन सिंह – रीवा राज्य दर्पण, पृ0 06
2. डॉ0 एस0 अखिलेश, रीवा राज्य का इतिहास, पृ0 28
3. राम प्यारे अग्निहोत्री, रीवा राज्य का इतिहास, पृ0 122
4. राम प्यारे अग्निहोत्री, रीवा राज्य का इतिहास, पृ0 124
5. रघुवर प्रसाद, रीवा राज्य का इतिहास, पु. 82
6. रघुवर प्रसाद, रीवा राज्य का इतिहास, पृ. 88
7. रघुवर प्रसाद, रीवा राज्य का इतिहास, पृ. 88
8. रघुवर प्रसाद, रीवा राज्य का इतिहास, पृ.156
9. रीवा स्टेण्ट पब्लिकेशनः रीवा स्टेट लैण्ड रेवेन्यू एण्ड टेनेक्सी कोड–1935.
10. जीतन सिंह, रीवा राज्य का इतिहास, पृ. 88
11. रीवा स्टेण्ट पब्लिकेशन, रीवा स्टेट लैण्ड रेवेन्यू एण्ड टेनेक्सी कोड–1935.
12. रामप्यारे अग्निहोत्री, रीवा राज्य का इतिहास, पृ.122.
13. रघुवर प्रसाद, रीवा राज्य का इतिहास, पृ.85
14. जीतन सिंह, रीवा राज्य का इतिहास, पृ.102
15. रीवा स्टेण्ट पब्लिकेशन, रीवा स्टेट लैण्ड रेवेन्यू एण्ड टेनेक्सी कोड–1935.

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUNE, 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

राजकोषीय नीति का भारतीय समाज पर प्रभाव

❐ डा. नीलिमा मिश्रा

शोध सारांश

किसी भी देश की आर्थिक स्थिति उसकी नीतियों पर निर्भर करती है। सरकार की योजनाओं का लाभ जब जनता के गरीब–से–गरीब तबके तक पहुँचता है तब उस देश की जनता का प्रेम सरकार और देश के प्रति भी बढ़ता है। जब उस देश के निवासी अपनी आजीविका का सफल साधन अपने घर पर ही प्राप्त करते हैं तथा कम लागत या जोखिम में अधिक लाभांश प्राप्त करने की स्थिति में होते हैं तब नौकरी की अपेक्षा उद्योग के लिए प्रोत्साहित होते हैं जिससे सरकार को कर के रूप में अधिक आय तथा अन्यों को नौकरी के अवसर प्राप्त होते हैं। जिसका सरकार पर सीधा प्रभाव यह होता है कि बेरोजगारी की सरकार की समस्या का निराकरण होता है। अतः उद्योगों का प्रोत्साहित करने के लिए राजकोषीय नीति सफल साधन है जिसके माध्यम से देश व समाज को सुव्यवस्था प्रदान की जा सकती है।

देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार समय–समय पर लोकहित मे नीतियों का निर्धारण किया जाना स्वाभाविक होता है। राष्ट्र की संप्रभुता और उसके विकास, समृद्धि आदि मे नीतियों का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। राष्ट्रनिर्माण में नीतियाँ ही कारगर सिद्ध होती हैं। जिस देश के नीतिनिर्धारक तत्त्व जिस मनोवेग और वैज्ञानिक चिन्तन के आधार पर नितियों का निर्धारण करते हैं, उस देश की तस्वीर उसी के अनुरूप निर्मित होती है। देश की स्मिता मुख्य रूप से शिक्षा, सुरक्षा और अर्थ पर निर्भर करती है। उन्हीं व्यवस्थाओं को व्यवस्थित रूप प्रदान करने के लिए राजतन्त्रीय प्रणाली से मुक्ति के पश्चात् प्रजातान्त्रिक प्रणाली मे देश को समृद्ध बनाने की दृष्टि से जिस आर्थिक नीति का निर्धारण किया गया उसे राजकोषीय नीति के नाम से जाना गया।

सामान्य रूप से हम सरकार द्वारा संचालित एवं क्रियान्वित सार्वजनिक आय, व्यय तथा ऋणादि से सम्बन्धित आर्थिक नीति को राजकोषीय नीति कह सकते हैं। राजकोषीय नीति की स्पष्ट करने के लिए विभिन्न विशेषज्ञ विद्वानों द्वारा अनेकों परिभाषायें प्रस्तुत की गईं। जो निम्नानुसार हैं–

* सहायक प्राध्यापक (अर्थशास्त्र), शासकीय वेंकट संस्कृत महाविद्यालय, रीवा (म.प्र.)

श्रीमती हिक्स – राजकोषीय नीति का सम्बन्ध उस पद्धति से है जिसमें लोकवित्त के विभिन्न अंग अपने प्राथमिक कर्त्तव्यों को पूरा करने हेतु सामूहिक रूप से आर्थिक नीति के उद्देश्यों को आगे बढ़ाने के लिए आगे लाये जाते हैं।

प्रो0 सेक्युल्सन – सक्रिय राजकोषीय नीति से हमारा तात्पर्य करारोपण एवं सार्वजनिक व्यय को ऐसा स्वरूप देने की प्रक्रिया से है– (अ) जो व्यापार चक्र की लहरों को दबाने मे सहायक हों (ब) जो एक विकासशील एवं उच्च रोजगार वाली अर्थव्यवस्था को अत्यधिक मुद्रास्फीति एवं मुद्रा संकुचन से मुक्त रख सके।

प्रो0 कुलवर्टन– राजकोषीय नीति से हमारा आशय सरकार के उन कार्यों से है जो सरकार के आय एवं व्यय को प्रभावित करते हैं और जिन्हें हम सामान्यतः सरकार की विशुद्ध आय, उसके आधिक्य अथवा घाटे द्वारा मापते हैं।''

उपर्युक्त विद्वानों द्वारा प्रदत्त राजकोषीय नीति विषयक परिभाषाओं के अध्ययन से स्पष्ट है कि, राजकोषीय नीति के अन्तर्गत सार्वजनिक आय – व्यय, करारोपण तथा ऋण सम्बन्धित उन वस्तुओं का अध्ययन किया जाता है जिनके द्वारा सरकार पूर्व निर्धारित आर्थिक उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है।

राजकोषीय नीति के उद्देश्य–

राजकोषीय नीति के उद्देश्यों को सन्दर्भित करते हुए प्रो0 मसग्रेव कहते हैं– ''राजकोषीय नीति का उद्देश्य उच्च रोजगार, कीमतों मे स्थिरता, विदेशी व्यापार मे सन्तुलन व आर्थिक विकास मे वृद्धि करना आदि है।''

राजकोषीय नीति को दो भागों मे विभक्त करते हुए हम निम्न रूप से स्पष्ट कर सकते हैं–

(1) उत्पादक संसाधनों की क्षमतावृद्धि – वर्तमान समय मे विश्व के सभी राष्ट्रों की सरकारों का उद्देश्य राजकोषीय नीति द्वारा उत्पादक संसाधनों की उत्पादकता वृद्धि कर राष्ट्रीय आय को बढ़ाना है। प्रत्येक देश की सरकारों अपने देशवासियों की मूलभूत सुविधाओं जैसे– बिजली, सड़क, यातायात के उत्तमोत्तम साधन, शुद्ध पेय जल व्यवस्था आदि के विस्तार द्वारा उत्पादन क्षमता मे निरन्तर वृद्धि के प्रयासों मे लगी रही है।

(2) आर्थिक मन्दी पर नियन्त्रण– सरकारें आर्थिक मन्दी पर नियन्त्रण के लिए सार्वजनिक निर्माण कार्यों को प्रारम्भ कर मन्दी से निपटने का प्रयास करती है। जिसका परिणाम यह होता है कि माँग बढ़ जाती है। मन्दी के समय मे सरकार आसान किस्तों मे अथवा न्यूनतम ब्याज दर में ऋण प्रदान कर उद्योग के लिए जन सामान्य को भी आमन्त्रित करती है।

(3) आर्थिक कल्याण में वृद्धि– आधुनिक समय में प्रत्येक सरकारें आर्थिक कल्याण की अभिवृद्धि के उद्देश्य की पूर्ति के लिए राजकोषीय नीतियों का प्रयोग करती हैं। जिसमें निर्धन एवं निःशक्तजनों, को शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। इसके अलावा भी जैसे बाढ़, अकाल, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, ओला आदि के द्वारा सार्वजनिक क्षेत्रों में होने वाले नुकसानों की क्षतिपूर्ति की जाती है।

(4) आय और सम्पत्ति की असमताओं को कम करना– सरकार आय तथा व्यय की असमनता को दूर करने की दिशा मे जब ठोस कदम उठाती है तब उसका स्वरूप घर के मुखिया की भाँति होता है। इस दिशा मे सरकार उद्योगपयिों के ऊपर प्रगतिशील कर निर्धारित करती है तथा उससे होनेवाली आमदनी को समाज के गरीब जनों तक पहुँचाती है जिनके पास जीवन की मूलभूत सुविधाओं की नितान्त कमी होती है।

(5) मुद्रास्फीति पर नियन्त्रण–राजकोषीय नीति के उद्देश्यों में मुद्रास्फीति को नियन्त्रित करना भी

सामिल है। जिससे देश की अर्थव्यवस्था की असामानता दूर होती है तथा समाज पर उसके पड़ते हुए बुरे प्रभाव को रोका जा सकता है। मुद्रास्फीति को रोकने का प्रभावी और तात्कालिक उपाय सरकार के पास यह होता है कि वह प्राशासनिक व्यय को कम करती है साथ ही सार्वजनिक व्ययों मे भी कटौती करती है। उद्योगपतियों पर करारोपण कर अनावश्यक उपभोग्य वस्तुओं के उपभोग मे रोकथाम करती है। इसके अलावा भी नये करों का प्रावधान कर आय को बढ़ाती है तथा पुराने कर की दरों में वृद्धिकर सरकार समाज की क्रयशक्ति को कुछ समय के लिए शिथिल करती है।

(6) **रोजगार**–किसी भी सरकार के पास युवाओं को रोजगार प्रदान करना एक सबसे बड़ी चुनौती होती है।

राजकोषीय नीति को सफल बनाने वाले प्रमुख साधन–

किसी भी नीति को सफल बनाने के लिए कुछ आवश्यक नियमों का निर्धारण तथा उनका सही तरीके से परिपालन अत्यन्त आवश्यक होता है; जो निम्नानुसार हैं, जैसे–

(1) **कर नीति**–कर जनता द्वारा सरकार के लिए देय आवश्यक अंशदान है। अतः राजकोषीय नीति की कर नीति सबसे प्रभावी साधन है। इसका कारण यह है कि सरकार कर के बदले शीघ्र ही कर दाताओं को उसका सीधा लाभ पहुँचाये यह आवश्यक नहीं है।

(2) **कर वृद्धि**–सरकार जब नये करों का प्रावधान करती है अथवा पुराने करों की दरों में वृद्धि करती है तब उसका उद्देश्य अधिक साधन जुटाने का होता है। जिसका वह जनता से प्राप्त साधन जनता के उस भाग तक पहुँचाने का होता है जो सबसे अधिक प्रभावित होता है। इसके साथ ही करवृद्धि कर धनिक वर्ग से अधिक साधन प्राप्त कर गरीबों को सब्सिडी के माध्यम से उन उपभोग्य वस्तुओं को पहुँचाया जाता है जो साधारणतः गरीबों की खरीद से बाहर होती है तथा उनके लिए भी समान रूप से आवश्यक होती है।

(3) **कर न्यूनता**–राजकोषीय नीति का कर न्यूनता भी एक साधन है। कमजोर वर्ग के लोगों की क्रयशक्ति को बढ़ाने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। ऐसे उद्योगपति भी कर न्यूनता लाभ लेकर पुनः अपने टूटे हुए व्यवसाय को खड़ा करने का साहस जुटा पाते हैं जो मुद्रास्फीति की मार से घाटे में पहुँच कर कंगाली की हालत में होते हैं। कभी–कभी मुद्रास्फीति के कारण तथा करवृद्धि के कारण व्यवसायी पूरी तरह कर न अदा करने की स्थिति में अपने आप को दिवालिया घोषित करने लगते हैं तथा व्यापार को छोड़ने की स्थिति में आ जाते हैं जिसका सीधा असर आम जनता पर पड़ता है। ऐसी स्थिति में रोजगार के साधन कम हो जाते हैं। अतः सरकार कर न्यूनता के द्वारा उन उद्योगपतियों को उद्योग संचालित किये रहने के लिए अवसर प्रदान करती है।

(4) **व्यय नीति**–सरकार की राजकोषीय नीतियों में व्यय नीति भी महत्त्वपूर्ण है। आर्थिक विकास के लिए संचय के साथ–साथ धन का सार्वजनिक स्थानों में व्यय भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। जिस पर विकास आधारित होता है। सरकार का कर्तव्य है कि वह आय की प्रत्याशा में भी व्यय को महत्त्व प्रदान करे। जिससे रोजगार के साधनों में बढ़ोत्तरी होती है तथा सरकार की आमद में भी बढ़ोत्तरी होती है।

(5) **सार्वजनिक ऋण और बजट नीति**–सरकार द्वारा सार्वजनिक हितों को ध्यान में रखते हुए जब आय से अधिक व्यय किया जाता है तब

सार्वजनिक ऋण लेना भी आवश्यक हो जाता है। इसीलिए सरकारें घाटे का बजट तैयार करती हैं। सरकार को आर्थिक स्थिति मजबूत करने के लिए घाटे का बजट तैयार करना होता है जिसके अन्तर्गत सरकारें अपने देश के पूँजीपतियों अथवा विदेशों से ऋण प्राप्त कर उद्योग व्यापार के कार्यों अथवा सार्वजनिक कार्यों में उस धन का व्यय कर अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने का प्रयास करती है।

राजकोषीय नीति के प्रभाव–

अर्थव्यवस्था मे राजकोषीय नीति के निम्न प्रभाव–

(1) संसाधनों का आवंटन–सरकार द्वारा जब किसी क्षेत्र विशेष के लिए धन का आवंटन किया जाता है तब अन्य संसाधन भी उसी ओर आकर्षित होते हैं। अतः सरकार द्वारा निर्णीत क्षेत्र में संसाधनों को प्रोत्साहन प्राप्त होता है।

(2) पूँजी निर्माण–सार्वजनिक क्षेत्रों में सरकार द्वारा क्रियान्वित विनियोग से जब उद्योगों को प्रोत्साहन प्राप्त होता है तब सरकार के पास स्वयं की पूँजी का निर्माण होता है। किन्तु जब सरकार कर के माध्यम से धन संचय या प्राप्ति का उपाय करती है तब जनता के ऊपर विपरीत प्रभाव पड़ता है। अतः सरकार कभी कभी स्वयं सार्वजनिक क्षेत्रों मे हिस्सेदारी कर सीधे धन प्राप्ति का उपाय बनाती है जिससे सरकार के पास पूँजी निर्माण होकर सरकार चलाने मे मदद प्राप्त होती है।

(3) आय वितरण–राजकोषीय नीति से आय का वितरण भी प्रभावित होता है। सरकार बड़े उद्योगपतियों से अधिकाधिक कर के रूप में धन प्राप्त कर उसे निर्धनों तथा पूँजीविहीन उद्योग के इच्छुक जनों को वितरित करती है। इसके अलावा उन मूलभूत सुविधाओं जैसे– बिजली, पानी, शिक्षा, स्वास्थ्य, सुरक्षा आदि के साधन उपलब्ध कराती है जिससे आय का वितरण हो जाता है तथा समाज सुव्यवस्थित होकर चलायमान रहता है।

सन्दर्भ–

(1) कौटिलीय आर्थशास्त्र– श्री वाचस्पति गौरेला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2009।

(2) यूनीफाइड अथशास्त्र– डॉ. पी.डी. माहेश्वरी, कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल।

(3) अग्रवाल आर्थिक सिद्धान्त– एम.एल. सेठ, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल पुस्तक प्रकाशन एवं विक्रेता, आगरा–3।

(4) अर्थशास्त्र– डॉ. वी.सी. सिन्हा एवं पुष्पा सिन्हा, साहित्य भवन 34, लाजपत कुंज, आगरा 282002 / 2004

(5) अर्थशास्त्र– डॉ0 एस.एस.शुक्ला, एवं डॉ0 जे.पी. मिश्रा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUNE, 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

आयुर्वेद का अभ्युदय

❒ डॉ. रमाशंकर द्विवेदी
❒ डॉ. बुद्धिलाल प्रजापति

शोध सारांश

आचार्य चरक ने आयुर्वेद को शाश्वत कहा है। क्योंकि जब से 'आयु' जीवन का प्रारंभ हुआ और जीव का ज्ञान हुआ तभी से आयुर्वेद की सत्ता प्रारंभ होती है।[1] सुश्रुत ने कहा है कि ब्रह्मा ने सृष्टि के पूर्व ही आयुर्वेद की रचना की।[2] जिससे प्रजा उत्पन्न होने पर इसका उपयोग कर सके। इससे भी आयुर्वेद का शाश्वतत्वनिक होता है। सभी संहिताकारों ने ब्रह्मा से आयुर्वेद का प्रादुर्भाव बताया है तथा यह भी कहा गया है कि ब्रह्मा ने आयुर्वेद की लक्षश्लोकमयी संहिता का निर्माण किया। यह सब भी सृष्टिकाल से ही आयुर्वेद के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। कोई वस्तु जब अनादिकाल से परंपरा के द्वारा प्रवाहित होती रहती है तो उसे शाश्वत कहते हैं। चरक के कथनानुसार ब्रह्मा से आयुर्वेद का ज्ञान दक्ष प्रजापति ने प्राप्त किया।[3] ब्रह्मा के आयुर्वेद के प्रादुर्भाव का आख्यान यह संकेत करता है कि आयुर्वेद सृष्टि के आदिकाल से ही विद्यमान है। दक्ष प्रजापति, अश्वनीकुमार तथा इंद्र ऐतिहासिक व्यक्ति थे। प्रायः भारतीय परंपरा में विद्याओं का स्रोत ब्रह्मा से प्रारंभ होकर इंद्र तक क्रमशः माना जाता है। इंद्र के द्वारा इस ज्ञान का प्रसार जब भू–मण्डल में हुआ तब से आयुर्वेद की श्रृंखला का प्रारंभ माना जा सकता है।

नवीन आर्थिक नीति जिसे आधुनिक समाज मे आर्थिक दर्शन की संज्ञा प्रदान की गई है, की उत्पत्ति सन् 1984 में हुई किन्तु इसे समाज में पूर्णरूप से मान्यता 1991 में प्राप्त हुई। इस आर्थिक नीति को स्थापित करने का श्रेय भारत के पूर्व प्रधानमन्त्री स्वर्गीय राजीव गाँधी जी को जाता है। राजीव गाँधी ने औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति को परिवर्तित कर उदारीकरण की नीति को अपनाने की पहल की थी। इसका परिणाम यह हुआ कि, औद्योगिक घराने एवं विदेशी निवेशकों के लिए वे स्थान सुलभ हो सके जो इसके पूर्व केवल सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित थे। आर्थिक सुधार की इसी कड़ी में सन् 1985 से 1990 के मध्य एम.आर.पी.टी. एवं फेरा अधिनियमों मे परिवर्तन

* शास. स्वामी विवेकानन्द महाविद्यालय त्योंथर, जिला–रीवा (म.प्र.)
** शास. टी.आर.एस. महाविद्यालय, रीवा (म.प्र.), ई मेल : drbuddhilprajapati@gmail.com

कर उद्योगों के निजीकरण की दिशा में महत्त्वपूर्ण पहल की गई।

विविध रोगों से अक्रांत सभी वर्गों के प्राणियों के कष्टमय जीवन से सुखी होकर दयालु महर्षियों ने हिमवत् पार्श्व में सभा की की जिसने यह निर्णय लिया गया कि इन्द्र से इस ज्ञान को प्राप्त किया जाए। इस दुष्कर कार्य के लिए भारद्वाज स्वेच्छया नियुक्त हुए और वहा जाकर इंद्र से कहा कि भू–लोक में भयंकर व्याधियाँ उत्पन्न हुई है। इनके शमन का उपाय बतलाएँ। इस पर इन्द्र ने भारद्वाज को सूत्र रूप के ब्रह्म परंपरा से प्रवाहित शास्वत, त्रिसूत्र तथा स्वस्थातुरपरायण आयुर्वेद का उपदेश किया, भारद्वाज ने यह ज्ञान आत्रेय आदि महार्षियों को दिया। आत्रेय ने पुनः अपने छः शिष्यों अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत, क्षारपाणि का दिया। जिन्होंने अपने–अपने तंत्र (संहिताएँ) बनायी, इनमें अग्निवेश तंत्र सर्वप्रथम बना ये तंत्र ऋषि परिषद द्वारा अनुमोदित होने पर लोक में प्रचालित हुए।

सुश्रुत संहिता में सृष्टि के पूर्व ही ब्रह्मा के द्वारा आयुर्वेद के प्रादुर्भाव का उल्लेख है। इसमें आयुर्वेदावतरण का चरकोक्त क्रम ही वर्णित है। केवल आत्रेय के स्थान पर धन्वंतरि का नाम आया। इन्द्र से धन्वंतरि ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त कर अपने शिष्यों सुश्रुत प्रभृति को इसमें ज्ञान दिया। शाङर्गधर संहिता के अनुसार स्वयं ब्रह्मा ने सृष्टि के पूर्व ही आयुर्वेद की रचना की। उनसे क्रमशः यह ज्ञान दक्ष प्रजापति, अश्विनी कुमार और इंद्र को प्राप्त हुआ। कश्यप, वशिष्ठ, अत्रि और भृगु इन चार ऋषियों ने इंद्र से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया और पुनः अपने पुत्रों और शिष्यों को दिया। अष्टांग हृदय के अनुसार ब्रह्मा ने आयुर्वेद का स्मरण कर दक्ष प्रजापति को दिया। दक्ष प्रजापति ने अश्विनी कुमारों को अश्विनी कुमारों ने इंद्र को, इंद्र ने आत्रेय आदि मुनियों को तथा इन मुनियों ने अग्निवेश आदि शिष्यों को शिक्षित किया, जिन्होंने पृथक्–पृथक् कर अनेक तंत्रों की रचना की।

भावप्रकाश में आत्रेय प्रमुख मुनियों का इंद्र के द्वारा अध्यापन कहा गया है। आत्रेय ने इंद्र से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त कर अग्निवेश आदि शिष्यों को दिया। इंद्र के पास भारद्वाज के गमन और आयुर्वेद शिक्षण की बात भी आई है। जिससे भारद्वाज स्वयं दीर्घायु होते हुए और अन्य ऋषियों को दीर्घायु बनाया। आत्रेय के शिष्य आदि मुनियों के तंत्रों को संकलित तथा प्रतिसंस्कृत कर चरक के द्वारा चरक संहिता के निर्माण का भी आख्यानात्मक वर्णन है। इसी प्रकार धन्वंतरि और सुश्रुत के प्रादुर्भाव का विवरण दिया गया है। चरक संहिता तथा सुश्रुत संहिता में वर्णित आयुर्वेदावतरण के क्रम क्रमशः आत्रेय संप्रदाय तथा धनवन्तरि संप्रदाय कहलाते हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराण में एक और संप्रदाय का उल्लेख है जिसे भास्कर संप्रदाय कहते हैं। इसके अनुसार दक्ष प्रजापति ने चारों वेदों को देखकर आयुर्वेद का पंचम वेद बनाया और उसे भास्कर को दिया। भास्कर ने उस आधार पर अपनी संहिता (भास्कर संहिता) का निर्माण किया और आयुर्वेद का ज्ञान अपने 16 शिष्यों में वितरित किया जिन्होंने पुनः अपनी–अपनी संहिताएँ बनायी।

आयुर्वेदावतरणम्[1] (प्रागैतिहासिक काल)
श्रुतसंहितानुसार
ब्रह्मा
दक्षप्रजापति
अश्विनौ
इन्द्र
धन्वन्तरि
कास्यपसंहितानुसार
ब्रह्मा
अश्विनौ
इन्द्र
कास्यप वसिष्ठ अत्रि भृगु आदि
इनके पुत्र तथा शिष्य
पुराणों के अनुसार
प्रजापति
भास्कर
धन्वन्तरि, दिवोदास,
काशिराज, अश्विनी, नकुल,
सहदेव, यम, च्यवन, जनक,
बुध, जाबाल, जाजलि, पैल,
कवंध, अगस्त्य च्यवन,
कल्याणकारकम्
(जैनाचार्यों के अनुसार)
प्रथमतीर्थङ्कर (आदिनाथ
ऋषभदेव)
गणाधर परमेष्ठी
अन्ययोगी
पिप्पलनद पैलराण पौषकलावत औरभ्र कश्यीर्य गोपुररक्षित
परासर हारीत क्षारपाणि

अष्टांग विभाग–यद्यपि वैदिक वाङ्मय में आयुर्वेद के सभी अंगों के विषय उपलब्ध होते हैं तथापि उनका स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि अष्टांग विभाजन बाद में हुआ। आयुर्वेद संहिताओं में जो यह लिखा है कि मनुष्यों के अल्पायु तथा अल्पमेधस्त्व का विचार कर आयुर्वेद को आठ अंगों में विभक्त कर दिया। इससे भी यही पता चलता है कि यह कार्य बाद में हुआ। पुराणों में यह निर्देश है कि द्वापर में अंगों का विभाजन हुआ और धन्वन्तरि आयुर्वेद के अष्टांगों का विभाग करेंगे। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिककाल (इंद्र) के बाद यह कार्य हुआ।

वैदिक वाङ्मय–वैदिक वाङ्मय वट वृक्ष के समान विशाल है। और समस्त ज्ञान विज्ञान को अंतर्भूत किए हुए है। यह वाङ्मय सामान्यतः संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद और वेदांग इन चार खण्डों में विभक्त है। सहिताओं की अनेक शाखाएँ हैं और प्रत्येक शाखा की अपनी विशिष्ट परंपरा है। इन शाखाओं के विशिष्ट ब्राह्मण अरण्यक तथा उपनिषद है। चिकित्साशास्त्र का उपजीव्य मुख्यतः अथर्ववेद है। जिसकी नौ शाखाएँ हैं–पैप्पलाद, तोद, भौद, शौनकीय, जाजल, जलद, ब्रह्मवद, देवदर्श और चारण वैद्य। इनकी अनेक शाखाएँ पंतजलि के काल तक उपलब्ध थीं। ऐसा महाभाष्य के वचनों से प्रमाणित होता है।

संप्रति शौनकीय तथा पैप्पलाद शाखाएँ उपलब्ध है। अथर्ववेद के पाँच कल्पसूत्र है। कौशिक, वैतान, नक्षत्रकल्प आंगरिस कल्प तथा शांतिकल्प। इसका ब्राह्मण गोपथ ब्राह्मण तथा उपनिषद प्रश्न, मण्डूक तथा माण्डूक्य है। अथर्ववेद का महत्व इसी से प्रतिपादित होता है कि इसे ब्रह्मवेद की संज्ञा दी गई। यहाँ तक कहा गया कि जो ब्रह्मवेद में उपनीत है, वह सब वेदों में उपनीत है और जो इसमें उपनीत नहीं है वह सभी में अनुपनीत है।

ब्रह्मा शब्द यहाँ ज्ञान–विज्ञान परक है और वेद के सभी प्रयोजनों की सिद्धि इसके द्वारा होती है। आयुर्वेद का विशेष संबंध अथर्ववेद से स्थापित किया जाता है। इसका कारण यह है कि इसमें रोगों की चिकित्सा का अन्य संहिताओं की अपेक्षा विस्तार से किया गया है और भेषज के द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति का विधान है। जो वस्तुतः ब्रह्म पद ही है। इससे भी अथर्ववेद का ब्रह्मवेदत्व सिद्ध होता है। अथर्ववेद भृगवङ्गिरस तथा अथर्वङ्गिरस के रूप में प्रसिद्ध रहा है।

अथर्वङ्गिरस की उत्पति का आख्यान गोपथ ब्राह्मण में अत्यंत स्पष्ट रूप में मिलता है। अश्विनौ के समान यह युग्म भी चिकित्सा की दो प्रचलित पद्धतियों का संकेत करता है। अथर्वन् मुख्यतः दैवव्यपाश्रय चिकित्सा करते थे और अङ्गिरस अगों के रस से संबंध रखने के कारण युक्तिव्यापाश्रय से संबंध थे। ऐसी भी मान्यता है कि अथर्व शांतिक पौष्टिक आदि सोम्यकर्म करते थे। जबकि अङ्गिरस घोर कर्मों में प्रवृत्त थे। व्यवहार में वस्तुतः वे क्रमशः सौम्य और आत्रेय संप्रदायों का प्रतिनिधित्व करते थे। ये ही दोनों संप्रदाय आगे चलकर काय चिकित्सा तथा शल्य के संप्रदायों में परिणित हुए। ऋग्वेद के धनुर्वेद यजुर्वेद के स्थापत्यवेद, सामवेद के गांधर्व वेद और अथर्ववेद का उपवेद आयुर्वेद है।

वैदिक वाङ्मय का काल

वैदिक वाङ्मय में ऋग्वेद प्राचीनतम तथा ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण अभिलेख है। लोकमान्य तिलक ने ज्योतिष के आधार पर इसके काल निर्णय का प्रयास किया है। कृतिका नक्षत्र के आधार पर शतपथ ब्राह्मण का काल 4000 वर्ष पूर्व/ई.पू. 2000 निर्धारित किया गया है। इसी प्रकार भृगशिरा तथा पुनर्वसु नक्षत्र व आधार पर ऋग्वेद का काल ई.पू. 4000 से 6000 माना गया

है। अथर्ववेद अथर्वांगिरस के नाम से अतिप्राचीन काल में प्रसिद्ध रहा है। वृह्दारययक उपनिषद के मधुविद्या प्रकरण में अश्वनी कुमार दध्य अथर्वण से शिक्षा प्राप्त किए हैं। अश्वनी कुमारों के चिकित्सा तथा अन्य क्षेत्रों में चमत्कार के अनेक प्रसंग ऋग्वेद में दृष्टिगोचर होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि अथर्वण संप्रदाय उसके पूर्व से प्रतिष्ठित था।

ऐसा कहा गया है कि अथर्वाङ्गिरस का ही पूर्ण रूप अश्विनौ में प्रतिफलित हुआ और वे भिषकविद्या के प्रतीक बने। अथर्ववेद लोक परम्परा में आदिकाल से प्रचलित था। जिसे आगे चलकर अपनी उपादेयता के कारण समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई अतः ऐतिहासिक दृष्ट से अर्थर्वेदीय सामग्री ऋग्वेद के समकालीन ही है।

विद्वानों का मत है कि अथर्ववेद के अंतिम दो (19वां और 20वां) काण्ड प्रक्षिप्त है जो बाद में जोड़े गये हैं। जो भी हो अथर्ववेद ने कालक्रम से अपनी उपदेयता के कारण समाज तथा वैज्ञानिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान बना लिया। काश्यप ने इसे अथर्ववेद से उत्पन्न होने पर भी पंचम वेद के रूप में सभी वेदों का उपजीव्य मानते हैं। परीक्षित का उल्लेख अथर्ववेद में हुआ है। विष्णुपुराण के अनुसार परीक्षित के जन्म तथा मगध सम्राट नन्द के बीच की अवधि 1015 वर्षों की है। भगवानबादरायण के अनुसार यह 1915 वर्षों की वायु मत्स्य तथा ब्रह्मण पुराणों के अनुसार 1050 वर्षों की है। इस प्रकार परीक्षित काल लगभग 1500 ई.सा. पूर्व माना है।

वेदों में आयुर्वेद–

वेदों में रुद्र, वरुण, इन्द्र, मरुत आदि दैव्य भिषक कहे गए हैं। किन्तु सर्वाधिक प्रसिद्धि अश्विनी कुमारों की हैं। जो ''देवानां भिषजौ'' के रूप में प्रख्यात हैं। इनकी चिकित्सा चातुर्य जो ऋग्वेद में वर्णित है। उससे अनुमान किया जा सकता है कि ऋग्वेद काल में आयुर्विद्या की स्थिति कितनी समुन्नत थी।

अश्विनी कुमार अरोग्य, दीर्घायु, शक्ति प्रजा वनस्पति तथा समृद्धि के प्रदाता कहे गए हैं। वे सर्वविध औषधियों के ज्ञाता थे। अथर्वण दधीचि से उन्होंने मधुविद्या और प्रवर्ग्य विद्या की शिक्षा प्राप्त की जिससे वे 'मधु विद्याविशारद' हुए।

अश्विनी कुमार सुन्दर एवं बलशाली हैं उनके रथ में दो चक्र हैं। जिनमें एक भूलोक एवं एक द्युलोक में हैं। सूर्य की पुत्री ऊषा ने उनका वरण किया है और वह रथ पर बैठी हैं। रथ पर एक मधु से भरा घड़ा है। इनके मधु वाहन रथ में तीन चक्र है। उनके आलम्बन के लिए तीन स्तंभ हैं। तीन कोण और तीन शिखर हैं ये रात्रि में तीन बार और दिन में 3 बार यात्रा करते हैं।

अश्विनौ में अत्र शब्द से बलवत्ता का बोध होता है। रथ के तीन चक्र आध्यात्मिक अधिदैविक तथा अधिभौतिक विचारों को सूचित करते हैं। इससे त्रिदोष का संकेत होता है।

ऊषा शक्तिदायक है अतः उसका वरण स्वाभाविक है। मधुपूर्ण कुंभ ओजो युक्त जीवन का प्रतीक है। हे अश्विनौ दिव्य पार्थिव और आप्य औषधियाँ तीन बार दो। हमारी संतान के कल्याण के लिए त्रिधातु को समस्थिति में लाओ और हमें दीर्घायु बनाओ।

अश्विनौ जरा हीन, नित्य तरुण हैं। ये वेग से आते हैं। इनके पास विमान भी है। ये औषधों को रखने वाले वधू तथा रथी हैं और ओज प्रदान करते हैं।

अश्विन देव दो हैं। एक का रथ सुनहरा है और सभी यज्ञ स्थानों में जाता है। दूसरा मन्थनोत्थ घृतादि अन्नों से सबको पुष्ट करता चलता है। एक पुराने वीर शत्रु को परास्त करता है और मधुर अन्न रस का सर्वत्र संचार करता है। दूसरा नदियों

को जल से भरता है। दोनों एक शिला के दो पत्थर हैं।

अश्विनी कुमार के चमत्कार :–

1. प्रसव योग्य होने पर भी गौ को प्रसवित्री और पयस्विनी बनाया।[4]

2. च्यवन ऋषि को बूढ़ा से जवान बनाया, दीर्घायु किया और अनेक नारियों (कन्याओं) का पति बनाया।[5]

3. अथर्व कुलोत्पन्न दधीची ऋषि से मधुविद्या और कक्ष्यविद्या पढ़ी और उनके शिर का संधारण किया।[6]

4. वध्रिमती कथा को हिरण्यहस्त पुत्र दिया।

5. ऋज्राश्च ने अपने पिता की सौ भेड़े भेड़ियो को खाने के लिए दे दिया। पिता के शाप से वह अंधा हुआ। उसे दृष्टिवान बनाया और कभी न बिगड़ने वाली आंखे दी।[7]

इस प्रकार अश्विनी कुमार अष्टांग आयुर्वेद में दक्ष थे और सबसे महती थी उनकी दयालुता तथा लोकोपरायणता जिसके कारण जहां भी किसी को कष्ट में देखते शीघ्र वहाँ पहुँचकर उसकी सहायता करते। वस्तुतः वह एक आदर्श वैद्य के प्रतीक थे।

वैदिक युग में मनुष्य के जीवन का आधार वृक्ष एवं वनस्पतियाँ ही थीं। मानव अपनी तमाम आवश्यकताओं की पूर्ति इन्हीं वृक्षों के माध्यम से करता था तथा मानव–जीवन इन्हीं वृक्षों पर आश्रित रहा है।

इन प्राकृतिक प्रयोजनों के अतिरिक्त व्याधियों के निवारण के लिए भी वनस्पतियों का प्रयोग होता था। यज्ञ के लिए निर्दिष्ट अजा, अश्व आदि पशुओं के रुग्ण होने पर उनकी चिकित्सा करनी पड़ती थी। जिसमें इन औषधियों उपयोग किया जाता था। क्योंकि रुग्ण पशु का यज्ञ में प्रयोग निषिद्ध था। मनुष्य स्वयं अपने रोगों के निवारण के लिए इनका प्रयोग करता था। इस प्रकार वैदिक कालीन मानव के योगदान में आयुर्वेदिक वनस्पतियों का महत्वपूर्ण स्थान था। यही कारण है कि वैदिक वाङ्मय में औषधीय वनस्पतियों की स्तुति में अनेक मंत्र उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद का औषध सूक्त तो प्रसिद्ध है। अथर्ववेद में अनेक ऐसे स्थल आते हैं जहां मन्त्रद्रष्टा महर्षि वनस्पतियों की स्तुति करते नहीं थकते।

वैदिक मानव ने प्रकृति के सहचर्य से वनस्पतियों का ज्ञान प्राप्त किया। सभ्यता के विकास के साथ जैसे–जैसे उसकी आवश्यकतायें उभरने लगी, वैसे–वैसे वनस्पतियों के प्रयोग का क्षेत्र विस्तृत होता गया।

अथर्ववेद में वनस्पतियों का स्पष्ट नामोल्लेख कृमि संबंधी जनकारी, शल्य चिकित्सा और प्रसूति विज्ञान आदि विषय मिलते हैं। अथर्ववेद का संबंध मनुष्य जीवन के साथ क्रियात्मक रूप में होने से आयुर्वेद का संबंध अथर्ववेद विशेष से है। कृमियों को नष्ट करने के लिए विशेष उल्लेख है। रक्त और मांस को दूषित करने वाले जुओं को बहुत बड़े पैमाने पर मारने के साधनों से मारता हूँ जो जंतु मेरे द्वारा बनाई गई औषधि आदि से पीड़ित हैं या जो नहीं पीड़ित हैं। वे सब सूख गए हैं। जो बच गए पहले नहीं मरे उनको मंत्र के बल से मारता हूं। जिससे इनके बीच में कोई न बचे सके।

उदय होता हुआ सूर्य अपनी किरणों से कृमियों को मारे। अस्त होता हुआ सूर्य अपनी किरणों से कृमियों का नाश करें। जो कृमि गौओं के शरीर में रहते हैं। उनको नष्ट करें।[8]

अथर्ववेद ने अनेक वनस्पतियों का भी उल्लेख किया गया है। जैसे पिप्पली– यह औषधि जीवन के लिये उपयोगी है। पिप्पली कड़वी है, जो मनुष्य इसका उपयोग करता है। वह कभी ज्वर ग्रस्त नहीं होता। पिप्पली वात रोग और उन्माद, अपस्मार की उत्तम औषधि है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. सोयडमायुर्वेद शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्, स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्, भावस्वभाव–नित्यत्वाच्च। *चरक संहिता सूत्र 30/26*
2. इह खल्वायुर्वेदमष्टागड़मथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्रलोशतसहस्त्रमध्यायसहस्त्रअ कृतवान् स्वयम्भूः ततोडल्पायुष्टवमल्पमेधस्त्वआलोक्य नराणां भूयोडष्टधा प्रणीतवान्।। सुश्रुत संहिता सूत्र 1/3
3. ब्रह्माणा हि यथाप्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापतिः। चरक संहिता सूत्र 1/4
4. ऋग्वेद 1/112/3
5. ऋग्वेद 1/116/10, 1/117/13
6. वृहदारण्यक उपनिषद–2/5 (ऋग्वेद) 1/116/12
7. ऋग्वेद 1/116/16
   अथर्ववेद 3/32/1–4

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUNE, 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

मानव संसाधन : विकास एवं नियोजन

❒ डा. एम.एल. तिवारी
❒ सीमा तिवारी

शोध सारांश

लोकल्याणकारी शासन व्यवस्थाओं में सरकार की नीतियाँ तथा कार्यक्रमों को प्रभावी तथा मूर्तरूप देने के लिए लोक सेवकों की महती भूमिका है इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि मानव संसाधन के विकास से संबंधित संगठनात्मक प्रयासों को कार्मिक प्रशासन के माध्यम से व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया जाए क्योंकि मानवीय श्रम शक्ति में अपार संभावनाएँ मौजूद है तथा मानव वृद्धि से बढ़कर अन्य कोई आश्चर्य इस संसार में नहीं है। मानव सभ्यता और संस्कृति के विकास का इतिहास इसके अदम्य साहस, संघर्ष और अजीविका का दर्पण है। वर्तमान लोक कल्याणकारी राज्य के प्रवर्तन में सभ्यता का विकास और विनाश पूर्णतः लोक सेवाओं तथा कार्यरत् कार्मिकों पर निर्भर करता है।

प्रस्तुत शोध अध्ययन का उद्देश्य लोक सेवकों की बढ़ती मूल भूमिका को मानवीय दृष्टिकोण के माध्यम से राज्य सरकार एवं केन्द्र सरकार में कार्यरत कर्मचारियों, उद्योगों एवं औद्योगिक घरानों के मालिकों में लोक सेवकों की महत्वपूर्ण भूमिका प्रदर्शित करना है। कहा जाता है कि, भारतीय उद्योग तीन एम पर निर्भर है, मानव, मुद्रा और माल। इसमें मानव ना हो तो सब कुछ समाप्त है। आम बोलचाल की भाषा में ''एच.आर.डी.'' (हयूमन रिसोर्स मैनेजमेंट) के नाम से लोकप्रिय हो रही यह अवधारणा किसी संगठन में कार्यरत् कार्मिकों के विकास तथा कल्याण को सर्वाधिक महत्व प्रदान करती हैं।

मानव के संगठन का मूल्यवान तथा असीमित क्षमताओं से युक्त संसाधन मानकर उसके सर्वांगीण विकास को प्राथमिकता प्रदान करने की यह अवधारणा कुछ दशक पूर्व ही स्वीकार की गई थी। मानव संसाधन विकास की नवीन अवधारणा कार्मिकों के विकास लोक सेवकों की महती भूमिका को समझने का प्रयास करती है। इस अवधारणा में यह मानकर चला जाता है कि, कामिकों की संतुष्टि तथा उत्पादन बढ़ाने से पूर्व संबंधित संगठन में ऐसा वातावरण होना चाहिए जिसमें कार्मिकों की क्षमताएँ स्वतः ही बढ़ती रहें।

* प्राध्यापक, सेवानिवृत्त, जनता महाविद्यालय रीवा
** शोधार्थी, शास. टी.आर.एस. महाविद्यालय रीवा

प्रस्तुत शोध अध्ययन मानव से संबंधित पर मानव क्रियाशील प्राणी है। क्रियाशीलता के साथ उसे समय–समय पर अभिप्रेरणा (मौद्रिक, अमौद्रिक) की आवश्यकता पड़ती है। लोक सेवाओं या सेवाक्षेत्र में परम्परागत नौकरशाही के शिकंजे के कारण नवीन प्रयास प्रायः नहीं हो पाते हैं। दूसरा कारण यह है कि, सामाजिक सेवाओं के रूप में कार्यरत् सरकारी विभाग लाभ कमाने के लिए कार्यरत् नहीं है। अतः उनमें नव प्रवृत्तियों के प्रति उत्साही नहीं पाया जाता है। शोध अध्ययन के निम्न उद्देश्य है–

1. लोक सेवक को कर्त्तव्य निर्वहन में यथार्थता तथा स्पष्टता प्रदान करना।

2. परिवर्तित परिस्थितियों में लोक सेवकों को प्रदत्त नवीन उत्तरदायित्वों की पूर्ति के योग्य बनाना।

3. उच्च कार्य तथा गुरुत्तर दायित्वों के अनुरूप क्षमताओं को विकसित करना।

4. कार्मिकों का मनोबल उच्च स्तर पर बनाए रखना।

5. लोक सेवकों मं 'सेवकों' की भावना विकसित करना ना कि मालिक होने का भ्रम।

6. प्रत्येक प्रकार के कार्य में मानवीय संवेदनाओं को महत्व देते हुए उसे तत्परतापूर्वक संपादित करना।

प्रस्तुत शोध अध्ययन में मूलतः द्वितीयक समंकों का प्रयोग किया गया है। परंतु शोध की गुणवत्ता तथा मौलिकता हेतु प्राथमिक समंक जैसे मौखिक साक्षात्कार, व्यक्तिगत अनुसंधाण अप्रत्यक्ष मौखिक अनुसंधाण, प्रश्नावली आदि शोध विधि का उपयोग किया गया है। भारत में एच.आर.डी. की अवधारणा को सन् 1975 से निजी प्रतिष्ठानों में स्वीकार किया गया। श्री राजीव गाँधी का शासनकाल भारत में कम्प्यूटर, संचार, उपभोक्त संरक्षण तथा मानव संसाधन विकास की नवीन अवधारणाओं के प्रसार के लिए याद किया जाता है। यद्यपि उन्होंने सन् 1985 में संघीय स्तर पर मानव संसाधन विकास मंत्रालय' की स्थापना अवश्य की तथापि इस मंत्रालय का कार्य प्रत्यक्षतः संगठित कार्मिक विकास से व्यापक रूप से संबंधित नही रहा है। इस मंत्रालय के अधीन शिक्षा, खेलकूद, संस्कृति तथा महिला एवं बाल विकास नामक चार विभाग कार्यरत थे। वर्तमान में इस मंत्रालय में प्रारंभिक शिक्षा तथा साक्षरता विभाग, माध्यमिक शिक्षा तथा उच्चतर शिक्षा विभाग और महिला एवं बाल विकास विभाग कार्यरत है। निस्संदेह इन विभागों का कार्यक्षेत्र व्यापक रूप से मानव संसाधन को विकसित करने से संबंधित है। कार्मिक नीतियों के निरूपण तथा क्रियान्वयन के लिए 'कार्मिक, लोक शिकायत तथा पेंशन मंत्रालय' पृथक से कार्यरत है जो मुख्यतः सरकारी कार्मिकों की भर्ती, प्रशिक्षण एवं विकास से संबंधित कार्य करता है। एच. आर.डी. की पश्चिमी अवधारणा को कतिपय निजी तथा सरकारी औद्योगिक संस्थानों में क्रियान्वित किया गया है। इन अधिकांश संस्थानों के 'कार्मिक प्रशासन' विभाग का नाम मानव संसाधन विकास इकाई' कर दिया गया है। कुछ संस्थानों में प्रशिक्षण पर बल दिया गया है तो किसी में कार्य निष्पादन मूल्यांकन पद्धति पर ध्यान केन्द्रित है। सन् 1985–87 में सेन्टर फॉर एच.आर.डी., जेवियर लेबर रिसर्च इन्स्टीट्यूट तथा नेशनल एच.आर.डी. नेटवर्क द्वारा भारत के 53 प्रतिष्ठानों में मानव संसाधन विकास की स्थिति का अध्ययन करवाया गया था। अध्ययन में यह पता चला कि 89 प्रतिशत संस्थानों में कार्मिक नीति निर्माण हेतु सर्वेक्षण कार्य तो हुआ था किन्तु 20 प्रतिशत संस्थानों में ही एच.आर.डी. को सार्थक या व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया गया। भारत में सर्वप्रथम सन् 1975 में लार्सन एण्ड टूब्रो कम्पनी ने श्रमिकों की कार्य निष्पत्ति के मूल्यांकन, परामर्शदात्री सेवाएँ, कार्य दलों के निर्माण इत्यादि के रूप में एच.आर.डी. की शुरूआत की। इसी तरह क्रॉम्पटन ग्रीव्ज लिमिटेड,

ज्योति लिमिटेड, टी.वी.एस. आयंगर एंड संस, वोल्टास लिमिटेड, बैंक ऑफ बड़ौदा, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, स्टेट बैंक ऑफ पटियाला, इण्डियन ऑयल कॉरपोरेशन तथा स्टील अथॉरिटी ऑफ इण्डिया लिमिटेड ने मानव संसाधन को महत्वपूर्ण मानते हुए विगत सदी के अस्सी तथा नब्बे के दशक में व्यापक प्रयास किए। इन औद्योगिक प्रतिष्ठानों में 'एच.आर. डी.' की शुरूआत तथा क्रियान्विति से उत्पादन तथा कार्मिक संतुष्टि में उल्लेखनीय प्रभाव दिया है।

समस्त प्रकार की शासन व्यवस्थाओं तथा प्रशासनिक प्रणालियों में मानव विकास को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया जाता है। आधुनिक लोक कल्याणकारी राज्यों का दर्शन, चिन्तन तथा प्रयास, पूर्णतः मानव संसाधन विकास को समर्पित हैं क्योंकि मनुष्य के सर्वांगीण विकास के बिना राज्य के विकास या सरकार के अस्तित्व की कल्पना करना व्यर्थ है। जैसा कि पूर्व पृष्ठों पर बताया जा चुका है मानव संसाधन विकास की अवधारणा व्यावहारिक रूप में दो स्तरों पर प्रवर्तित है–(1) सामुदायिक स्तर पर मानव संसाधन विकास, (2) संगठनात्मक स्तर पर मानव संसाधन विकास। जहाँ तक सामुदायिक स्तर पर मानव संसाधन को विकसित करने का प्रश्न है, उसमें चिकित्सा, स्वास्थ्य, परिवार, कल्याण, शिक्षा, आवास, रोजगार, शुद्ध पेयजल, परिवहन, समता, न्याय, मानवाधिकार, सुरक्षा सहित जीवन की सभी मूलभूत आवश्यकताओं की सुनिश्चितता सम्मिलित है। आधुनिक लोक प्रशासन जो कि प्रशासकीय राज्य के रूप में कार्य कर रहा है, का मूल उद्देश्य मानव संसाधन विकास ही है। समाज कल्याण के रूप में दी जाने वाली ऐसी सेवाएँ जो कि वृद्धों, महिलाओं, बच्चों, असहायों, निःशक्तजनों, निर्धनों, श्रमिकों, पिछड़े वर्गों तथा अन्य भेदभावग्रस्त व्यक्तियों से संबंधित हैं, का प्रत्यक्ष प्रभाव किसी भी समाज के समग्र मानव संसाधन सूचकांक पर पड़ता है। हाल ही के वर्षों में लिंग आधारित भेदभाव को समाप्त करने के लिए किए गए जेण्डर संवेदनशीलता प्रयासों को भी मानव संसाधन विकास के मूलभूत आधारों से गिना जाता है। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम की मानव विकास रिपोर्ट की तर्ज पर भारत की प्रथम मानव विकास रिपोर्ट, योजना आयोग द्वारा दिनांक 23 अप्रैल 2002 को जारी की गई, जिसे भारतीय लोकतंत्र का महत्वपूर्ण दस्तावेज बताते हुए कहा जा रहा है कि इसके आधार पर राज्यों की योजना का आकार निश्चित किया जा सकता है।

रिपोर्ट के अनुसार देश में उदारीकरण के दस वर्षों 1991–2001 में समग्र मानव विकास सूचकांक में बेहतर सुधार हुआ है। सन् 1983–93 के दौरान मानव विकास सूचकांक में 2.6 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि दर बनी हुई थी जबकि सन् 1993–94 से सन् 200–01 की अवधि में यह दर 3 प्रतिशत से भी अधिक रही। सन् 1981 से सन् 2001 तक के दो दशकों में केरल (प्रथम), पंजाब (द्वितीय), हरियाणा (पांचवें), पश्चिम बंगाल (आठवें) तथा बिहार (पन्द्रहवें) के स्थान में कोई अंतर नहीं आया जबकि तमिलनाडु ने सातवें से तीसरे तथा राजस्थान ने बारहवें से नवें स्थान पर आकर अपनी स्थिति सुधारी है। सर्वाधिक पतन असम राज्य का हुआ है जिसकी स्थिति दसवें स्थान से खिसक कर चौदहवें स्थान तक चली गई हैं।

तालिका क्रमांक 1

मानव विकास सूचकांक के आधार पर प्रमुख राज्यों की स्थिति

राज्य	मानव विकास सूचकांक पर	
	1981	1991
आंध्र प्रदेश	9	9
असम	10	10
बिहार	15	15
गुजरात	4	6
हरियाणा	5	5
कर्नाटक	6	7
केरल	1	1
मध्यप्रदेश	14	13
महाराष्ट्र	3	4
उड़ीसा	11	12
पंजाब	2	2
राजस्थान	12	11
तमिलनाडु	7	3
उत्तरप्रदेश	13	14
पश्चिम बंगाल	8	8

भारत की इस मानव रिपोर्ट स्पष्ट ध्वनित होता है कि जो राज्य शिक्षा, स्वास्थ्य, निर्धनता उन्मूलन, समजा कल्याण, जनसंख्या नियंत्रण तथा अन्य सामाजिक सेवाएँ देने में अग्रणी हैं वे अंततः समग्र विकास की राह पर जा रहे हैं। सामुदायिक स्तर पर मानव संसाधन विकास का महत्व यह है कि–

1. व्यक्ति के कल्याण के बिना समाज का विकास असंभव है।

2. यद्यपि बढ़ती जनसंख्या मानव विकास में बाधक है किन्तु यह भी सत्य है कि मानव विकास के बिना जनसंख्या नियंत्रण संभव नहीं है।

3. किसी भी समाज एवं राष्ट्र की एकता, समरसता तथा प्रगति, प्रमुख रूप से मानव विकास पर निर्भर करती है।

4. संपूर्ण आर्थिक, तकनीकी, राजनीतिक तथा भौगोलिक विकास का आधार उसी स्थिति में सुदृढ़ होता है जबकि मानव विकास हो चुका हो।

5. प्रशासनिक तंत्र, राजनीति, उद्योग, रक्षा तथा न्याय सहित सभी प्रमुख क्षेत्रों में कार्यरत मानव संसाधन वही है जो समाज में उपलब्ध है अतः संगठनात्मक स्तर पर मानव संसाधन विकास से पूर्व यह आवश्यक है कि सामुदायिक स्तर पर

मानव विकास हो चुका हो ताकि संगठनात्मक स्तर पर श्रेष्ठ कार्मिकों की प्राप्ति सुनिश्चित हो सके।

मानव सभ्यता एवं संस्कृति की विकास यात्रा, मनुष्य की श्रेष्ठ शारीरिक संरचना तथा उसके बौद्धिक चातुर्य का परिणाम है। इसीलिए आधुनिक प्रबंध विज्ञानों में कहा जाता है कि पूंजी, सामग्री, तकनीक तथा प्रक्रियाओं आदि संसाधनों का पूर्णरूपेण कुशलतापूर्वक उपयोग हेतु संगठन में कार्यरत कार्मिकों की कुशलता एवं प्रतिबद्धता का उच्चस्तरीय होना आवश्यक है। यद्यपि विश्व के विकसित राष्ट्रों में मानव संसाधन विकास (एच.आर.डी.) की अवधारणा नई नहीं है तथापि भारत में मानव संसाधन विकास की संकल्पना आज भी सीमित, संकीर्ण तथा अपेक्षाकृत नई प्रतीत होती है। यदि ध्यान से देखा जाए तो हम पाते हैं कि हमारे संविधान में वर्णित नीति निदेशक तत्व मानव संसाधन विकास की अवधारणा से ओत–प्रोत हैं।

मानव संसाधन विकास से तात्पर्य उस प्रक्रिया तथा अवधारणा से है जो मनुष्य को एक संसाधन मानते हुए इसके संपूर्ण पक्षों को उन्नत एवं परिवर्तित करने की ओर बल देती है ताकि कार्य–परिणामों का स्तर भी उच्च बने सके। प्राचीन भारतीय राजनीतिक एवं प्रशासनिक चिंतकों में अग्रणी कौटिल्य ने अपनी विश्वप्रसिद्ध पुस्तक 'अर्थशास्त्र' में लिखा है कि राजा के अधीन कार्य करने वाले सेवकों के कल्याण एवं विकास के बिना राज्य के उत्कर्ष की कल्पना करना व्यर्थ है। अतः कहा जाता है कि निष्कृष्ट कार्मिक, श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ संगठन को रसातल में पहुँचा सकते है जबकि श्रेष्ठ कार्मिक निष्कृष्टतम संगठन को भी उन्नत बना सकते है। यही कारण है कि आधुनिक प्रशासनिक व्यवस्थाओं में मानव संसाधन अर्थात कार्मिकों के विकास हेतु नाना प्रकार की नीतियाँ एवं नियम प्रतिपादित किये जा रहे हैं।

संदर्भ स्रोत

1. भारत मानव विकास रिपोर्ट, योजना आयोग, भारत सरकार नई दिल्ली 2002
2. डॉ. सुरेन्द्र कटारिया, सामाजिक प्रशासन, आर. बी.एस.ए. पब्लिशर्स, जयपुर 2002
3. हरमन फाईनर, थ्योरी एंड प्रेक्टिस ऑफ मॉडर्न गवर्नमेन्ट, सुरजीत पब्लिकेशंस, दिल्ली 1961
4. के.एम. माथुर हयूम रिसोर्स डिवलपमेन्ट इन इंडिया, (बी.एल. माथुर सं. पुस्तक स्ट्रेटीज, एप्रोचेज एंड एक्सपीरियन्सेज) अरिहंत, जयपुर 1989
5. मानव संसाधन प्रबंध एवं नियोजन, रमेश बुक डिपो, जयपुर
6. राजस्थान पत्रिका, जयपुर 10 दिसम्बर 2001
7. दैनिक भास्कर समाचार पत्र, 02 जनवरी 2005
8. योजना पत्रिका, दिसम्बर 2001
9. कुरूक्षेत्र पत्रिका अगस्त 2008

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUNE, 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

बैगा जनजाति : एक भौगोलिक अध्ययन

❒ डॉ. एस.पी. पाण्डेय
❒ मनोज द्विवेदी

शोध सारांश

समाज और काल निरन्तर परिवर्तनशील हैं। काल का प्रवाह समाज को परिवर्तित करता रहता है, जिसका प्रत्येक सामाजिक के ऊपर प्रभाव पड़ता है। अर्थ मानव की सबसे बड़ी आवश्यकता है। समय के अनुसार अर्थ प्राप्ति तथा उसके उपभोग आदि की नीतियों का निर्धारण सदियों से होता चला आया है। समाज को संचालित करने वाले तत्त्व सभी प्रकार की नीतियों का निर्धारण करते हैं। उसी परिप्रेक्ष्य मे जब राजतन्त्रीय प्रणाली का ह्रास हुआ तथा प्रजातान्त्रिक प्रणाली का अभ्युदय हुआ तब समाज की आवश्यकताओं और उसकी पूर्ति की दिशा में कुछ कदम उठाने आवश्यक हुए, जिन्हें नई आर्थिक नीति के नाम से जाना गया। जिनका उद्देश्य समाज के सभी वर्गों को उन संसाधनों को पहुँचाना था जो केवल कुछ विशिष्ट लोगों को ही प्राप्य थे। नई आर्थिक नीति का उद्देश्य समाज मे समानता के आधार पर सभी के लिए सभी वस्तुओं की उपलब्धता है तथा यह तभी सम्भव हो सकेगा जब किसी भी वस्तु की आपूर्ति उसकी माँग के सही अनुपात में की जा सकेगी।

सम्पूर्ण भारत वर्ष में सबसे ज्यादा आदिवासी म.प्र. में निवास करते हैं, उनमें से एक है बैगा। बैगा मध्यप्रदेश के मूल निवासी भी कहे जा सकते हैं। कोल और गोंड, बैगा को एक ऐसा पुजारी मानते हैं जिन्हें क्षेत्र की मिट्टी के रहस्यों का ज्ञान है। वो बैगाओं को अपने से ज्यादा प्राचीन मानते हैं और सीमा विवाद में उनके निर्णय का सम्मान करते हैं। बैगाओं के मध्य प्रान्त में प्रवास के समय उनके ग्राम पुजारी होने के कारण उन्हें बैगा नाम दिया या अपनाया गया। बैगा वर्तमान मध्यप्रदेश की तीन प्रमुख आदिम जनजातियों में से एक है। ये डिण्डोरी, मण्डला, शहडोल, उमरिया, बालाघाट, सहित देश के कई भागों में फैले हुये हैं। भोपाल के जनजातीय विकास संस्थान की रिपोर्ट के अनुसार यह राज्य

* प्राध्यापक (भूगोल), शा. ठाकुर रणमत सिंह महाविद्यालय, रीवा (म.प्र.)
** पीएच.डी. शोध अध्येता (भूगोल), शा. ठाकुर रणमत सिंह महाविद्यालय, रीवा (म.प्र.)

की सबसे पिछड़ी जनजातियों में से एक है। हाल के वर्षों तक बैगा जनजाति के लोग झूम कृषि (बेवार) करते रहे हैं। यद्यपि अब वे हल चलाकर कृषि करने की आवश्यकता के लिए मानसिक रूप से तैयार हो रहे हैं।

बैगा उत्पत्ति :–

बैगाओं की उत्पत्ति के बारे में कोई ठोस प्रमाण तो नहीं और न ही इनका लिखित इतिहास मिलता है। केवल इनके पूर्वजों द्वारा कही गयी पौराणिक गाथाओं से ही मालूम होता है कि इनकी उत्पत्ति कैसे हुई बैगा अपने आपको जंगल का राजा तथा सृष्टि का निर्माता बतलाते हैं। इनके मिथक और अवधारणाओं से स्पष्ट होता है कि बैगा अपना सम्बन्ध पृथ्वी निर्माण के प्रारंभ से जोड़ते आए हैं।

बैगा उत्पत्ति से संबंधित कई दंत कथाएँ प्रचलित हैं। एक दंत कथा के अनुसार भगवान ने पहले नागा बैगा और नागी बैगिन को उत्पन्न किया और भगवान ने उनके सामने विकल्प रखें कि वे किस कार्य के माध्यम से अपना जीवन–यापन करना चाहेंगे। दोनों ने जंगल में पेड़ों को काटकर जीवन–यापन करना स्वीकार किया और उन्होंने इसी माध्यम से जीवन व्यतीत किया। उनके दो पुत्र पैदा हुये, उनमें से एक बैगा ही रह गया और दूसरे ने मिट्टी खोदने का कार्य शुरू किया। दोनों भाइयों ने अपनी ही दो बहनों से विवाह कर लिया। दोनों जोड़ों के संतान हुईं, उनमें बड़ा वाला बैगाओं के पूवर्ज के रूप में जाना जाता है और छोटा वाला गोंड और दूसरी मानव जातियों के वंशज के रूप में जाना गया।

कथा का दूसरा प्रारूप यह है कि प्रथम बैगा जो एक दिन में 2000 साल के पेड़ काटता था उसे भगवान ने सलाह दी कि वो राख में कुछ कुटकी के बीज छिड़क दे और कुछ महीनों के लिए गहन निद्रा में चला जाये। जब वो जागेगा तब उसे एक अच्छी फसल काटने को मिलेगी। इस तरह से बेवार कृषि की शुरुआत हुई। बैगा आज भी बेवार नाम से यही कृषि करते आ रहे हैं।

प्रजातीय विषेशताएं –

बैगा एक द्रविड (ड्रिवेडियन) प्रजाति की जनजाति है।[1] शिवकुमार तिवारी ने इसे कोल वर्ग की जनजाति बताया है। बैगा मध्यम से नाटे कद के लम्बे, संकरे सिर और चपटी नाक वाले होते हैं।[2] बैगाओं का कृष्ण वर्ण, शरीर छरहरा तथा मजबूत होता है। इनके केश काले, घने तथा लहरियेदार होते हैं। बैगा पुरुष, महिलाओं की तुलना में देखने में अच्छे होते हैं। युवा पुरुष अक्सर मजबूत छरहरे, अच्छे नाक–नक्श, काले चमकीले लहरियेदार केश सहित सुन्दर होते हैं। त्वचा गोंडों की तुलना में हल्की भूरी होती है।[3] स्त्रियाँ औसत ऊँचाई की, कटि क्षीण, ऊपरी हिस्सा चौड़ा तथा टाँगें मजबूत होती हैं।[4]बैगा पुरुषों को सिर पर चोटी (गिर्दा) तथा लंगोटी के द्वारा पहचाना जा सकता है जबकि महिलाओं को पूरे शरीर पर गुदनों के द्वारा पहचाना जा सकता है।[5] बैगा अपनी मूल भाषा भूल चुके हैं, और अब अपने आसपास बोली जाने वाली देशज इण्डो–आर्यन भाषा बोलते हैं।[6] स्थानीय बोली फारसी भाषा या गवैंही भाषा, हिन्दी का बिगड़ा रूप बैगाओं द्वारा बोली जाती है।[7] बैगा अपने पड़ोसियों की भाषा बोलते हैं। अतः बैगाओं की बोली में 'गोंडी' के शब्दों का मिलना स्वाभाविक है। अब वे छत्तीसगढ़ी का विकृत रूप बोलते हैं।[8] बैगा अब जो बोली बोलते हैं, उसे ''बैगानी'' कहा जाता है। उसमें

बुन्देली के कई शब्द पाये जाते हैं।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

कभी–कभी ऐसा माना जाता है कि बैगा मूल रूप से छत्तीसगढ़ के मैदान एवं इसके चारों तरफ रहते हैं। पहाड़ी के कई इलाकों में जनजातियों के जमीन मालिकों का अधिकार रहता है जो बैगा जनजाति की ही शाखा के हैं जैसे भैंना एवं विंझवार। सर्वप्रथम उन्हें अंग्रेज अधिकारियों ने उन्नीसवीं शताब्दी में देखा था। उनके गाँव देश के उन्नत भागों से काफी दूर–दराज थे। उनके संपर्क के लिये कोई विशेष मार्ग नहीं थे। बैगा जनजाति के लोग मैकल पर्वत की गहन गिरी कंदराओं, घाटियों, तथा नर्मदा के किनारे ही निवास करते हैं। ये मण्डला, डिण्डौरी, बिलासपुर, कर्वधा, शहडोल, अनूपपुर, उमरिया, बालाघाट, सिवनी एवं छिंदवाडा जिले के हिस्से में बसे हुए है। डिण्डोरी जिले का भाग ही बैगा चक कहलाता है। बैगाओं से लगी हुई हर जगह गोंडो की बस्तियाँ है। पर गोंड इनकी तुलना में ज्यादा विकसित है।

ऐसा अनुमान है कि जब नवमी से तेरहवीं सदी के बीच गोंड जाति ने दक्षिण से गोदावरी एवं इन्द्रावती नदी को पर कर छत्तीसगढ़ के मैदानी भाग में प्रवेश किया तथा बाद में वे इस क्षेत्र के शासक भी बने, तभी से बैगा जनजाति छत्तीसगढ़ की पश्चिमी एवं उत्तरी सीमा पर स्थित मैकल पर्वत श्रृंखला में पलायन करने को विवश हुई। क्योंकि बैगा जाति के लोग छत्तीसगढ़ी भाषा में बालते हैं। जो कि उनके यहाँ पर आगमन के पूर्व छत्तीसगढ़ में ही निवास का प्रबल प्रमाण है।

बैगाओं का इस क्षेत्र में आगमन हिन्दुओं के आक्रमण और साथ ही रतनपुर के हैहय वंश के क्षत्रियों की उस क्षेत्र में अपनी सत्ता स्थापित करने के कारण हुआ। हैहय क्षत्रियों की रतनपुर शाखा का काल नवमीं शताब्दी निश्चित किया गया है। अतः यह प्रत्यागमन उसी प्रकार हुआ होगा जिस प्रकार कई शताब्दियों के बाद गोंडो का नर्मदा घाटी और नागपुर से प्रत्यागर्मन हुआ था। यदि कोई गोंड बैगा के खेत में हल से जोतना प्रारंभ कर देता है। तो वहाँ गोंड उसके खेत पर अधिकार कर लेता है। बैगा बिना किसी विरोध के उस क्षेत्र को छोड़कर अन्यत्र किसी दूसरे स्थान पर कृषि करने चला जाता है। बैगा जनजातियों के लोगों में अधिकार लिप्सा की भावना का सर्वथा अभाव रहता है।

इसी प्रकार जब किसी गाँव में अधिकांश गोंड आकर निवास करने लगते है तथा कृषि योग्य उत्तम भूमि पर अधिकार कर लेत हैं। तो उस गाँव के बैगा उस भूमि को छोड़कर दूसरे स्थान में चले जाते है। बैगाचक में भी जब बैगाओं को कृषि सिखलाने के उद्देश्य से गोंडो को बसाया गया। तब गोंडो ने उत्तम कृषि योग्य भूमियों पर अधिकार कर लिया जिससे बैगा उन श्रेष्ठ कृषि क्षेत्रों से संचित हो गए और उनकी पथरीली भर्रा जमीन ही हाथ में आई। फिर भी इन भोले–भाले बैगाओं ने गोड़ों का कोई प्रतिरोध नहीं किया। वे कम उपजाऊ क्षेत्र की ओर अग्रसर हो गए। इस प्रकार बैगा जनजाति के लोगों में अधिकार लिप्सा की भावना को अभाव एवं पलायनवादी प्रवृत्ति होती है।

बैगा परिवार व्यवस्था

बैगा परिवार सामाजिक–संगठन का सर्वाधिक आधारभूत घटक है। बैगाओं में पहले बहुपत्नी परिवार प्रथा पायी जाती थी। इसका कारण यह है कि बैगा समाज में महिलाओं की संख्या पुरुषों की तुलना में बहुत अधिक पायी जाती रही है। चूंकि बैगा अपने ही समाज के अन्दर विवाह संबंध स्थापित करते हैं, तथा स्त्रियों के समाज से बाहर विवाह करना प्रतिबंधित रहा है। अतः पुरुषों की कम

संख्या के कारण बैगा समाज में बहुपत्नी परिवार पाये जाते रहे हैं। बैगाओं की स्वतंत्र–प्रियता ने सदैव ही एकल परिवारों की स्थापना को प्रोत्साहित किया है, लेकिन आधुनिकता से सम्पर्क के कारण कमाई पर अधिकार को लेकर, पारिवारिक–कलह आदि के कारण बैगा एकल परिवार प्रणाली को अपनाने लगे हैं।

धार्मिक मान्यताएँ

बैगाओं का धर्म जीववादी है। बैगा बहुदेववादी भी होते हैं। इनके प्रमुख देवता बूढ़ादेव, ठाकुरदेव, धरती माता, बनजातिस माई, बधेसुरपन आदि है। अधिकांश बैगा हिन्दू धर्म के देवी–देवताओं को मानने लगे हैं।[9] गुनिया इनका मुख्य पुजारी होता है। अनेक बीमारियों व अन्य परेशानियों से मुक्ति हेतु कई भूत–प्रेतों तथा आत्माओं को भी प्रसन्न करते हैं। बैगा जनजाति के लोग विभिन्न रोगों की उत्पत्ति का कारण देवी–देवताओं की नाराजी या क्रोध को मानते हैं। अनेक देवी देवताओं का संबंध विभिन्न रोगों से रहता है। साँप या हिसंक पशुओं के काटने का कारण वह रात माई देवी जिस पर नाराज हो जाती है। उसी को साँप या कोई जानवर काटता है। इससे बचने के लिए वे लोग रात माई देवी का अनुष्ठान करते हैं।

धरती माता के नाराज होने से शराब जहर के रूप में परिवर्तित हो जाती है। इसलिए इसका वेतन करने के पूर्व ये लोग धरती माता की आराधना करके शराब की कुछ बूंदे धरती माता पर छिड़क देते है। इसी प्रकार त्योहार विवाह के अवसर पर जो भी भोजन तैयार किया जाता है। उसे सबसे पहले धरती माता को अर्पित किया जाता है। उसके बाद खाया जाता है। इसके अलावा ये लोग अग्नि देवता की भी पूजा करते है। अग्नि देवता के नाराज हो जाने से घर में आग लग जाती है। उनके नाराज हो जाने से परिवार के लोग आग से जल सकते है। अग्नि देवता को प्रसन्न करने के लिए जब भी त्यौहार या विवाह के अवसर पर भोजन तैयार किया जाता है। तो उस भोजन का थोड़ा सा अंश अग्नि देवत को अर्पण करते हैं। अग्नि देवता फसलों को आग से जलने से बचाता है। घर की रक्षा करता है। बैगा जनजाति के लोग अग्नि देवता की पूजा करते है। इसके लावा बैगा जनजाति अन्न माता (अन्नपूर्णा देवी) मारकी देवी भी बैगा के शरीर की रक्षा करते है। इन देवी–देवताओं के नाराज होने से शारिरिक और आर्थिक हानि होती है। यदि किसी बैगा परिवार के सदस्य के हाथ पैर में दर्द होता है। तो माना जाता है कि बूढ़ा देव नाराज हो गए। बूढ़ादेव के नाराज होने पर मरीज खटिया या जमीन पर पड़ा रहता है। महारानी देवी के नाराज होने पर रोगी को चक्कर आने लगते है। जब पूरे गाँव में उल्टी–दस्त का प्रकोप हो जाता है। तो समझा जाता है कि ठाकुर देव नाराज हो गए है। ठाकुर देवका निवास सरई या महुआ के वृक्ष में होता है।

निष्कर्ष

बैगा वर्तमान मध्यप्रदेश की तीन प्रमुख आदिम जनजातियों में से एक है। बैगा जनजाति प्रारंभिक नव प्रस्तार युग की याद दिलाती है। सरकार को उनके विकास के लिए बनाई गई योजनाओं एवं क्रियान्वयन विफल साबित हो रहे है। अनेक शोधों में भले ही इनके विकास को बढ़ा–चढ़ा के आंकड़े प्रस्तुत हो रहे। सरकारी आंकड़े भी इसी तरह प्रस्तुत हो रहे हैं। परन्तु इनकी स्थिति बहुत गंभीर है। नये सिरे से इनके विकास की योजनाओं को बनाने की आवश्यकता हैं। संक्रमण काल में इन्हें दी गई छूट से इनके सामाजिक व राजनैतिक उत्थान धीरे–धीरे वृद्धि हो रही है। उन्हें संविधान से मिली विशेष

प्रावधान के तहत सभी अधिकार प्राप्त हो तथा उनकी स्थिति को एक विशेष जाति, भाषा व संस्कृति के परिचायक समुदाय के रूप में समेकित करने में सामर्थ सिद्ध हो सकें तथा बैगा जनजाति अपना यापन सरलतापूर्वक कर सकें। वे सीधे और सरल स्वभाव के स्वाभिमानी व्यक्ति हैं। वह सबसे परस्पर प्यार व प्रतिष्ठा की कामना करते है।

संदर्भ

1. रसेल, आर. वी., ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ सेन्ट्रल प्रोविंन्सेस ऑफ इण्डिया 1916 : 77
2. सिंह के. एस., ट्राइबल सोसाइटी इन इंडिया, मनोहर पब्लिकेशन, दिल्ली। 1995 : 79
3. एल्विन वी., द बैगा, जॉन मुर्रे, लन्दन 1939 : 10
4. निरगुणे वी., आदिम पुराकथायें 1985 : 7
5. मिश्रा, शिवाकान्त, मध्यप्रदेश की जनजातीय संस्कृति, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी 1998 : 45
6. रसेल, आर. वी., ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ सेन्ट्रल प्रोविंन्सेस ऑफ इण्डिया 1916 : 78
7. डॉ. तिवारी शिवकुमार, मध्यप्रदेश की जनजातियाँ– समाज एवं व्यवस्था, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी 1994 : 109
8. एल्विन वी. द बैगा, जॉन मुर्रे, लन्दन 1939:53
9. एल्विन वी. द बैगा, जॉन मुर्रे, लन्दन 1939 : 54–64

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUNE, 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

शिक्षा : अभिभावक की मनोदशा

❒ डॉ. के.के. शर्मा
❒ मुकेश कुमार तिवारी

शोध सारांश

भारत में बहुत कम लोग यह मानते हैं कि उनके बच्चों का जीवन राजनीति द्वारा नियंत्रित होता है। बच्चों के बारे में सोचते समय ज्यादातर माता–पिता परिवार की परिधि के बाहर नहीं जाते। परिवार को वे एक राज्यनिरपेक्ष इकाई के रूप में देखते हैं और सत्ता को परिवार निरपेक्ष इकाई के रूप में। इस दृष्टिकोण ने परिवार को सत्ता के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध किया है। परिवार एक ओर व्यक्ति की चुनौतियाँ जज्ब कर लेता है, दूसरी ओर शासन को एक सुविधाजनक दायरे में कार्यरत रहने की छूट देता है। लोग सोचते हैं कि बच्चों और बूढ़ों की देखभाल जैसे काम परिवार के जिम्मे है और सरकार की जिम्मेदारी विदेशनीति, आयात–निर्यात, मुद्रा नियंत्रण जैसे 'बड़े' कामों की देखरेख करना है। इस तरह के श्रम–विभाजन का भ्रम लोगों को इस समझ से वंचित रखता है कि उनके बच्चे राजनीतिक नियंत्रण से उतने ही प्रभावित हैं जितने वे स्वयं।

शिशु के संदर्भ में परिवार की चर्चा बहुत सँभलकर की जानी चाहिए। पालने के इर्द गिर्द जो दृश्यावली शिशु की दृष्टि को अभ्यास और विस्तार देती है, वह पारिवारिक नहीं, सामाजिक होती है। माता–पिता और अन्य लोगों को तरह–तरह के काम करते हुए देखना शिशु के लिए एक सामाजिक अनुभव होता है। माता–पिता का सामीप्य शिशु के प्राथमिक अनुभवों में से एक होता है; अन्य अनुभव उसके पालने की लकड़ी का रंग तथा उसके कमरे की दीवारें हो सकती हैं–वह इतना सौभाग्यशाली है कि एक कमरे में लेटा है, आसमान के तले नहीं। दीवार, बिस्तर, रंग, कपड़े और खिलौने–ये सभी सामाजिक वस्तुयें हैं, जिन्हें माता–पिता अपने शिशु के लिए प्राप्त करते हैं और ऐसा करते हुए अपनी आर्थिक स्तर से प्रभावित होते हैं, जो अंततः उनके वर्ग का स्तर होता है। बच्चों का लालन–पालन करते हुए वे एक पृथक कोटि या संरचना नहीं गढ़ लेते जिसके सदस्य

* प्राध्यापक, शास. महाविद्यालय रामपुर बाघेलान, सतना (म.प्र.)
** शोधार्थी

केवल वे दोनों और उनका शिशु हो। घर के आसपास की चीजों से संबंध स्थापित करने में समर्थ होने तक बच्चे समाज के आर्थिक रिश्तों के प्रति संवेदनशील होने लगते हैं, और यथासंभव उन रिश्तों की रोक से निरपेक्ष रहकर जीने की कोशिश करते हैं। अंततः यह कोशिश माता–पिता और स्कूल के वर्ग–संस्कार के नियंत्रण में आकर बच्चे के वर्गीय व्यक्तित्व में विलीन हो जाती है।

चूँकि बच्चे के वयस्क रूप को प्रभावित करने में सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक शक्तियाँ एक साथ सक्रिय होती हैं, इसलिए केवल परिवार के संदर्भ में शिशु–जीवन का अध्ययन अत्यंत संकुचित होगा। स्वाधीन भारत में इन शक्तियों ने बच्चों के जीवन को जिन आयामों में प्रभावित किया है, उनमें से सर्वाधिक विस्तृत ये तीन आयाम हैंः गरीबी, कुपोषण तथा सांस्कृतिक बदलाव। भारतीय गाँव के आधुनिक शोषण का इतिहास कम–से–कम दो सौ वर्ष पुराना है। अठारहवीं सदी में ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा की गई लूट और उन्नीसवीं सदी में आरंभ में किया गया सुनियोजित पूँजीवादी पद्धति द्वारा शोषण, जिसकी बदौलत इंग्लैंड एक विकसित राष्ट्र बना, भारतीय समाज की ग्रामीण संरचना के हिंसक विनाश के ये दो अध्याय हैं, जिनका सम्यक विश्लेषण रजनी पाम दत्त ने किया है। गाँव का शोषण आजाद भारत में लगातार चालू रहा है। गाँव का श्रम और उत्पादन महानगर और बड़े कस्बों की सेवा में अर्पित हो रहा है, और बदले में महानगर में बनी हुई कुछ वस्तुएँ गाँव को मिल रही हैं, जिनके प्रयोग का आदी उसे महानगर ने ही बनाया है। गाँव की अधिकांश जनसंख्या भूमिहीन मजदूरों और छोटे किसानों की है। भारी मेहनत करने के बावजूद वे अपनी बुनियादी जरूरतें पूरी नहीं कर पाते, क्योंकि महानगरों के बृद्धों और मध्यवर्ग के हित में चलने वाली अर्थव्यवस्था गाँव के निर्धन वर्ग की क्रय–शक्ति को बढ़ने नहीं देती। भारी शारीरिक मेहनत से पैदा हुई चीजें, जो जीवन और स्वास्थ्य की बुनियादी जरूरतें पूरी करती हैं, शहर को गाँव से सस्ते दामों पर मिल रही है। इसके विपरीत वे चीजें जिन्हें मशीन की मदद से शहर तैयार करता है– वे बुनियादी जरूरतें पूरी करने वाली चीजें नहीं, सुविधा देने वाली चीजें हैं जो गाँव को बहुत ऊँचे दामों पर मिल पा रही हैं। इस प्रकार गाँव का लगातार शोषण हो रहा है। गाँव को आत्मनिर्भर बनाने का जो स्वप्न गाँधी ने देखा था, पूँजीवादी उद्योग–व्यवस्था ने उसे समाप्त कर दिया है।

आधुनिक भारत के गाँव में आर्थिक और राजनीतिक शोषण की पृष्ठभूमि में ही बचपन के संकुचन को ठीक तरह समझा जा सकता है। यह कहना विचित्र लग सकता है कि गरीबी और उत्पीड़न का वयस्कों और बच्चों के संदर्भ में अलग–अलग अर्थ है। वयस्क जीवन में गरीबी ने हिन्दुस्तान के बहुसंख्यक नागरिकों को विवशता में जीना सीखने के लिए मजबूर किया है। बच्चों के जीवन में गरीबी ने बड़ी सफलता पाई है, उसने बचपन का अर्थ ही बदलकर रख दिया है। बचपन को दुनिया के विभिन्न समाजों में नाना समयों में जिन विशेषताओं से पहचाना गया है। जैसे–स्फूर्ति, चपलता, सूझबूझ, सहज अभिव्यक्ति और तल्लीनता के साथ वे एक कुपोषित और बीमार बच्चे में या तो समाप्त हो जाती हैं या बहुत क्षीण रूप में रह जाती हैं। हिंदुस्तान का गरीब बच्चा एक छोटा आदमी बनकर रह जाता है, उसका बचपन, जो अनेक बच्चों का संपूर्ण जीवनकाल होता है, भूख, बीमारी और कुपोषण द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। देश में प्रतिवर्ष होने वाली कुल मौतों में से लगभग आधी मौतें 5 साल से छोटे बच्चों की होती है। जो बच्चे सीधे–सीधे मृत्यु की चपेट में नहीं आते, उनमें

से अधिकांश को कुपोषण के कारण शारीरिक या मानसिक क्षति उठानी पड़ती है।

बच्चों के कुपोषण में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की भूमिका क्या रही है? पिछले दो दशकों की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में भोजन या खाद्य सामग्री का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। धनी देशों, विशेषकर अमरीका, ने भारत जैसे निर्धन देशों की खाद्य संबंधी जरूरतों का लाभ उठाकर उनकी स्वायत्तता को चोट पहुँचाई है। पश्चिमी मदद से संभव बनी हरित क्रांति ने अनाज का उत्पादन अवश्य बढ़ाया, पर कृषि–साधनों के संदर्भ में हमें पश्चिम पर निर्भर भी बना दिया। कृषि–साधनों का मूल्य बढ़ने से गाँव के निर्धन वर्ग पर दबाव बढ़ा। हरित क्रांति ने ऐसी प्रक्रियाओं को जन्म दिया, जो दूध जैसे पोषक पदार्थों को गाँव से छीनकर शहर ले जा रही हैं और गाँव की निर्धन जनता को कृत्रिम खाद्य सामग्री महँगी दवाइयों की गिरफ्त में ला रही हैं। भारतीय भोजन में प्रोटीन के महत्त्वपूर्ण पारंपरिक स्रोत दाल की आपूर्ति घटी है। उपभोक्ता वस्तुओं का प्रचलन भी यही संकेत देता है कि निर्धन ग्रामीण जनता की सीमित क्रय–शक्ति परिवार को पोषक भोजन उपलब्ध कराने की जगह गैर–जरूरी चीजों की ओर मुड़ी है। हरित और श्वेत क्रांति के बावजूद देश–भर में ऊँची बाल–मृत्यु–दर बरकरार है। तीसरी दुनिया के देशों की खाद्य सभ्यता को संपूर्णतः विकृत बनाकर उन्हें पश्चिम की अर्थव्यवस्था पर निर्भर बनाते जाना इन दो–तीन दशकों की पश्चिमी खाद्य–नीति का उद्देश्य रहा है। हरित क्रांति ने भारत को इसी प्रवृत्ति की ओर मोड़ा। उसने गेहूँ का उत्पादन अवश्य बढ़ाया, पर कम–से–कम बाल–आहार के संदर्भ में अब विश्व स्वास्थ्य संगठन ने यह कहना आरंभ कर दिया है कि तीसरी दुनिया के देशों में माँ के दूध के स्थान पर कृत्रिम दूध तथा अन्य सामग्री के प्रचार से व्यापक दुष्परिणाम हुए हैं। भारत समेत अनेक देशों में प्रोटीन देने वाले कृत्रिम आहारों के प्रचार की पृष्ठभूमि भी राजनीतिक है। यह सर्वविदित है कि भारत में अनाज और दालों का बहुतायत से प्रयोग होता है, जिसमें प्रोटीन की काफी मात्रा पाई जाती है। यह एक चौंका देने वाला तथ्य है कि भारत में दालों की आपूर्ति घटी है और प्रोटीनयुक्त कृत्रिम आहारों तथा पोषक कही जाने वाली दवाओं का प्रचार बढ़ा है। भारत में कुपोषण का मुख्य आयाम ऊर्जा (कैलोरी), खनिजों तथा विटामिनों से युक्त भोजन की कमी है, प्रोटीन की कमी नहीं, ऐसा कुछ पोषणज्ञ मानने लगे हैं, जिनमें डॉ. सी. गोपालन प्रमुख हैं। किंतु हमारे पोषण कार्यक्रम आज भी कृत्रिम, प्रोटीनयुक्त आहारों में अधिक दिलचस्पी प्रदर्शित कर रहे हैं। जैसा कि डॉ. गोपालन कहते रहे हैं, ये कार्यक्रम अपना उद्देश्य मृत्यु की शिकार शक्ति कम करना मानते हैं, जीवनक्षमता बढ़ाना नहीं।

हाल के दशकों की विकास–प्रक्रिया ने गाँव के बच्चों को एक और तरह से भी प्रभावित किया है। काम की तलाश में भारी संख्या में गाँव के वयस्क अपने परिवारों को छोड़कर शहर चले जाते हैं, और इस तरह घर छोड़ने वालों की तादाद पिछले दो दशकों में लगातार बढ़ी है। आधुनिक पद्धतियों के प्रचार के साथ–साथ कृषि लगातार महँगी होती चली गई है और बड़े किसान की क्षमता बढ़ती गई है। इसके विपरीत छोटे किसान की बिसात, जो पहले ही कम थी, घटी है। एक नए किस्म की जमींदारी ने जन्म लिया है जिसका परिणाम व्यापक ग्रामीण बेरोजगारी के रूप में उभरा है। रोजगार की तलाश में सीमित क्षमता वाला ग्रामीण वयस्क गाँव छोड़ने को विवश हुआ है। पचास–सौ मील दूर चले जाना तो साधारण बात है, घर–परिवार से एक हजार मील या इससे भी

अधिक दूर स्थित शहरों में गाँव के लोग काम करते हैं। इस परिस्थिति का प्रभाव ग्रामीण परिवारों के विखंडन के रूप में उपस्थित हुआ है। बच्चों का पिता से संबंध टूटा है और पिता के मार्फत अन्य वयस्कों तक बच्चों की पहुँच घटी है, जो उनकी सामाजिक शिक्षा का अनिवार्य अंग है। बच्चों का सामाजिक प्रशिक्षण जिसकी संभावनाएँ परंपरागत गाँव और शिक्षा में अत्यधिक होती थी अब लगभग असंभव हो गया है। पाठ्यपुस्तकों को पाठ्यक्रम की तरह इस्तेमाल करने वाला आधुनिक स्कूल इस काम के प्रति पूरी तरह निरपेक्ष है।

गाँव के स्कूल की दशा इतनी जीर्ण–शीर्ण है कि वहाँ जाने और रुकने के लिए असाधारण मनोबल चाहिए, वहाँ रहकर कुछ सीखना और सीखने का आनंद लेना तो दूर की बात है। ग्रामीण स्कूलों में आमतौर पर न खेल की सामग्री है, न पुस्तकालय; यहाँ तक कि पक्की इमारत, पीने का साफ पानी और ढंग से बैठने की जगह भी दुर्लभ है। चौथे अखिल भारतीय स्कूल सर्वेक्षण के अनुसार देश के 50 प्रतिशत से अधिक प्राइमरी स्कूलों में न पीने का पानी था, न खेलने की जगह, न पक्की इमारत; 40 प्रतिशत स्कूलों में ब्लैकबोर्ड नहीं थे, 70 प्रतिशत में पुस्तकालय नहीं थे और 85 प्रतिशत में पेशाब घर नहीं थे। यद्यपि शहरों और कस्बों में भी प्राइमरी स्कूलों की दशा अच्छी नहीं है, पर ग्रामीण क्षेत्रों में कहीं बदतर है। स्कूलों की इस हालत में हम गाँव के अधिकांश बच्चों पर पड़ने वाले आर्थिक दबाव जोड़ लें तो आसानी से समझ लेंगे कि देश की प्राइमरी शिक्षा इतनी असफल क्यों रही है? पहले दर्जे में दाखिल होने वाले 100 बच्चों में से केवल 38 बच्चे पाँचवीं तक रह पाते हैं, शेष पढ़ाई छोड़ देते हैं। पढ़ाई छोड़ने वाले बच्चों में से कई अपने माता–पिता का हाथ बँटाने लगते हैं और कुछ स्वयं काम की तलाश में निकल पड़ते हैं। देश में ऐसा कोई औद्योगिक नगर नहीं है जहाँ भारी संख्या में बच्चों को मजदूर की तरह इस्तेमाल न किया जाता हो। फिरोजाबाद का काँच व्यवसाय हो या शिवकाशी का माचिस और पटाखा व्यवसाय या किसी भी साधारण कस्बे का बाजार–मजदूरी करते बच्चे हर जगह देखे जा सकते हैं। ऐसे बच्चों की संख्या प्रतिवर्ष बढ़ ही रही है, घट नहीं रही।

बचपन का स्वरूप बदलने वाली आर्थिक प्रक्रियाओं के दायरे में ही वे कारण ढूँढ़े जा सकते हैं जिनका ताल्लुक ज्ञान व मनोरंजन के स्रोतों से है। मनोरंजन बच्चों के जीवन की एक आवश्यकता नहीं, उसका अभिन्न अंग है। उनके खेल और खिलौने, कुछ बड़े होने पर उनका अध्ययन और सभी तरह के सर्जनात्मक काम उनके जीवन में मनोरंजन के साधन होते हैं बशर्ते वे दबाव में न किए जाएँ। लेकिन समकालीन समाज में बचपन का वर्णन और विश्लेषण करने के लिए 'दबाव' ही सबसे उपयुक्त शब्द प्रतीत होता है। पढ़ाई–लिखाई से लेकर भोजन करने तथा कपड़ा पहनने तक में बच्चे नाना प्रकार के दबाव झेलते हैं। ये दबाव स्कूल के हों या माता–पिता की मध्यवर्गीय कंठाओं के, बच्चों के जीवन में वे ऐसे क्षणों को लगातार दुर्लभ बनाते जा रहे हैं, जब वे आजादी से खेल सकें या अपनी पसंद के काम कर सकें। स्कूल की पुस्तकें इतनी अधिक हो गई हैं कि उन्हें ढोने के लिए अब बस्ते के स्थान पर पेटी ले जानी पड़ती है। स्कूल जितना अमीर और व्यवस्थित होगा, पढ़ाई और घर के लिए मिलने वाले काम का बोझ उतना ही अधिक होगा। बच्चों को अधिकाधिक व्यस्त रखने में माँ–बाप भी अपना हित देखते हैं। उन्हें यह भरोसा नहीं है कि बच्चे खाली रहकर घर में तोड़–फोड़ के सिवा भी कुछ कर सकते हैं।

पिछले तीन दशकों में प्रसार माध्यमों के विकास का स्वरूप हमें बच्चों के सामाजिक जीवन की संस्कृति का अध्ययन करने का एक महत्त्वपूर्ण आयाम प्रदान करता है। इस अवधि में सिनेमा हमारे समाज में मनोरंजन का सबसे लोकप्रिय और प्रभावशाली माध्यम सिद्ध हुआ है। सिनेमा हमारी आधुनिक संस्कृति में बिंबों का सबसे बड़ा स्रोत है। उसने साक्षरता और हैसियत की बाधाएँ बखूबी पार की हैं। पर अंततः उसके विकास का स्वरूप क्या रहा है? एक प्रसार माध्यम के रूप में वह हमारे शहरी मध्यवर्ग का एक शक्तिशाली पोषक साबित हुआ है। मध्यवर्गीय जीवन की रीतिबद्धता, अनुकरणप्रियता, प्रतियोगिता और हिंसा–ये सभी बातें बंबईया सिनेमा में प्रतिबिंबित हैं। ये ही वे मूल्य हैं, जो हमारे शासक वर्ग को टिकाए हैं और इन्हीं मूल्यों का प्रसार हमारी शिक्षा कर रही है। बंबईया सिनेमा देश के इतिहास की दो प्रमुख घटनाओं– सामाजिक चेतना के उपनिवेशीकरण और पूँजीवादी संस्कृति के जन्म– का सबसे भरोसेमंद दस्तावेज है। इन दो घटनाओं ने समाज में आर्थिक विषमता और हिंसा को नए आधार दिए हैं जबकि इनका एक व्यापक आधार जाति बहुत पहले से मौजूद है। बच्चों के समाजीकरण के एक सशक्त माध्यम के रूप में लोकप्रिय सिनेमा ने एक हिंसक और परंपरापोषी सभ्यता की नींव रखी है।

रेडियो और टेलीविजन का विकास शासकीय एकाधिकार में हुआ है और इस कारण ये दो प्रसार माध्यम हमारी उपनिवेशी नौकरशाही की सीधी चपेट में आए हैं। इन दोनों माध्यमों का प्रयोग नौकरशाही ने अपनी उपनिवेश भूमिका प्रचार के लिए किया है, न कि समाज में संवाद स्थापित करने के लिए। नौकरशाही वयस्कों के साथ–साथ बच्चों को भी प्रचार का पात्र मानती है, इस कारण हमारे रेडियो और टेलीविजन कार्यक्रम शिक्षा की दकियानूसी शैली से भरपूर होते हैं। जहाँ तक टेलीविजन का संबंध है, फिलहाल उसकी सबसे बड़ी कामयाबी सस्ते दामों पर उपलब्ध बंबईया फिल्में बच्चों को घर में दिखाने की रही है। हाल के वर्षों में 'वीडियो' के जरिए बंबईया फिल्म की पहुँच और बढ़ गई है। टेलीविजन और वीडियो उपभोक्ता संस्कृति के सशक्त साधन बन गए हैं। शिक्षा से उनका संबंध कहने भर को है।

आधुनिक प्रसार माध्यमों के विकास के साथ–साथ वे तमाम रंगविधान जो भारतीय जनजीवन के अंग थे और जिनका सर्वाधिक आकर्षण बच्चों के लिए था, धीरे–धीरे अपना अस्तित्व खोते चले जा रहे हैं। कठपुतली, जादू, मदारी का खेल, सर्कस और नौटंकी इस तरह के कुछ रंगविधान हैं, जो आर्थिक दबावों का सामना और नए प्रसार माध्यमों से स्पर्धा कर सकने में असमर्थ सिद्ध हुए हैं। उनका दायरा सरकारी कला–विभागों तथा प्रगतिशील कलाकारों की पुनरुज्जीवक चेष्टाओं में सिमट गया है। सिनेमा, रेडियो और दूरदर्शन के सम्मुख इन कलाओं के ह्रास का कारण भारतीय समाज के अनेक क्षेत्रों में मुखर आर्थिक और राजनीतिक प्रक्रियाएँ हैं। शासक वर्ग द्वारा मध्यवर्गीय हितों के लिए संचालित इन प्रक्रियाओं ने टेक्नालॉजी के इस्तेमाल के लिए सर्वहारा समाज के कला माध्यमों की समाप्ति आवश्यक बनाई है।

ज्ञान के स्रोत के रूप मे शिक्षा का आर्थिक संदर्भ वही है, जो प्रसार माध्यमों तथा बाल साहित्य का है। नीति, कार्यक्रम और संचालन इन तीनों दृष्टिकोणों से शिक्षा पर शासक वर्ग का नियंत्रण है। शासक वर्ग ने शिक्षा को अपनी उपनिवेशीय सभ्यता के प्रसार का माध्यम बनाया है।

साक्षरता वास्तव में एक आधुनिक अवधारणा है जिसका सीधा संबंध प्रचारित ज्ञान से है। पढ़–लिख सकने की ऐसी क्षमता, जो उद्यम या

जीविकोपार्जन से संबद्ध नहीं है, व्यक्ति को प्रचारित साहित्य अथवा ज्ञान के संपर्क में ही ला सकती है। यह प्रचारित ज्ञान क्रांतिबोधक हो सकता है और शोषक भी। दुनिया के ऐसे अनेक समाजों में, जहाँ क्रांतियाँ हुई हैं, साक्षरता ने एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक भूमिका निभाई है। भारत समेत अनेक उपनिवेश रह चुके देशों में साक्षरता क्रांतिकारी आंदोलनों के जरिए नहीं, सरकारी प्रचारतंत्र के माध्यम से एक राष्ट्रीय उद्देश्य के रूप में लाई गई है, उनमें साक्षरता की शोषक भूमिका स्पष्ट है। इन समाजों में साक्षरता शिक्षा का पर्याय नहीं बन पाती, एक हुनर बनकर रह जाती है; क्योंकि वह साक्षर व्यक्ति को कभी उसके अस्तित्व के अर्थ का बोध नहीं करा पाती। चीजों और कामों से व्यक्ति के रिश्ते को समझानेवाली शक्ति के रूप में भाषा का विकास साक्षरता की मौजूदा भूमिका में शामिल नहीं है। साक्षर व्यक्ति अपने अभ्यास से शब्दों की संरचना तो सीख लेता है, पर शब्द किस प्रकार समाज की संरचना से जुड़े हैं, यह नहीं जान पाता। उसे यह समझाने के लिए साक्षरता का वैचारिक कार्यक्रम आवश्यक है।

ऐसी साक्षरता जो शब्दों के अलावा परिस्थिति का बोध कराती है, शिक्षा बन जाती है। इसके विपरीत जब शिक्षा जीवन और समाज की परिस्थिति से कट जाती है, तब वह साक्षरता बनकर रह जाती है। बीसवीं सदी में शिक्षा का ऐसा अवमूल्यन भारत समेत उन सभी देशों में हुआ है, जो इंग्लैंड या अन्य यूरोपीय देशों के उपनिवेश रहे हैं और अब नव–उपनिवेशीय अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को निभा रहे हैं। भारत में बच्चों की शिक्षा वस्तुतः साक्षरता से भिन्न नहीं है; क्योंकि वह बच्चों को समाज की सांस्कृतिक चेतना से जोड़ने की जगह बेगाना बनाने का साधन बना दी गई है। बचपन जीवन का एक हिस्सा न रहकर एक चरण बन गया है, जिसमें रहते हुए जीने की तैयारी ही की जा सकती है, जीवन जिया नहीं जा सकता। स्कूल की चारदीवारी केवल सुरक्षा का साधन नहीं रह गई है, वह बचपन और सामाजिक जीवन को एक–दूसरे से अलग रखनेवाली सीमा बन गई है। चारदीवारी के भीतर एक सी जानकारी बच्चों को दी जाती है जिसका उनके दैनंदिन जीवन से संबंध नहीं होता। कहने को स्कूल बच्चों की भाषा का विकास करता है पर भाषा जीवन के सतत अनुभव से ही अर्थ ग्रहण करती है। भारतीय स्कूल पर पाठ्यपुस्तकों का इतना कड़ा नियंत्रण है कि स्कूल के बाहर स्थित समाज की जीवंत भाषा कक्षा में प्रवेश नहीं कर पाती। पाठ्यपुस्तकों में दिए गए ज्ञान का स्रोत बच्चे के भौगोलिक और सामाजिक संदर्भ में नहीं, प्रांत या देश की राजधानी में है। अपने आसपास के यथार्थ से अपना रिश्ता न समझ पानेवाला व्यक्ति लगातार बेगाना होता चला जाता है और अपने बेगानेपन का स्रोत न समझ सकने के कारण अंततः अपनी सुरक्षा किसी व्यापक, निवैर्यक्तिक संरचना को समर्पण में पाता है। सभ्यता के विकास की एक स्थिति में यह व्यापक, निवैर्यक्तिक संरचना प्रायः अध्यात्म होती है; आज वह लगभग सदैव राजनीतिक सत्ता होती है।

स्कूल एक पुरानी संस्था है किंतु हमारी सदी में उसका जितना सुनियोजित नियंत्रण हुआ है, उतना पहले कभी नहीं था। इस नियंत्रण के अनेक क्षेत्र और स्वरूप हैं, अध्यापकों की नियुक्ति और उनकी सेवा की शर्तों से लेकर पाठ्यपुस्तकों के लेखन और घंटी से बच्चों की दिनचर्या के परिचालन तक स्कूल पर राज्य के नियंत्रण का दायरा है। नियंत्रण के इन विविध माध्यमों का सम्मिलित प्रभाव बच्चों के व्यक्तित्व पर पड़ता है। मुझे आज तक ऐसे स्कूल में जाने का मौका नहीं मिला है जहाँ छुट्टी की घंटी बजने पर बच्चे खुशी से शोर

मचाते हुए न भागते हों। मैंने यह भी देखा है कि बड़े बच्चे घंटी बजने पर कम शोर मचाते हैं, छोटे ज्यादा। कोई शिक्षायी नौकरशाह इसकी यह व्याख्या कर सकता है कि आयु बढ़ने के साथ बच्चों का समाजीकरण होता है। इस व्याख्या के पीछे यह पुरानी मान्यता काम कर रही है कि बच्चे जन्म से अराजकतावादी होते हैं। इस मान्यता के तहत बच्चों की तीव्र जिज्ञासा तथा अपने आसपास के यथार्थ को समझकर उसके मुताबिक व्यवहार करने की इच्छा बेमानी है।

स्कूल की घंटी बच्चों के जीवन का ऐसा नियमन करती है, जिससे वे अपनी नैसर्गिक रुचियों और सामर्थ्य द्वारा होने वाले नियमन की संभावना खो बैठते हैं। यह हो चुकने पर वे एक ऐसे अनुशासन के आदी हो जाते हैं जो अनुशासन नहीं सीधे–सीधे शासन होता है। हमारे सामाजिक क्रियाकलाप और विधान एक अदृश्य कार्यक्रम के अधीन घटित होते हैं जब कि सारे शासकीय कर्तव्य एक निश्चित कार्यक्रम और प्रणाली के अधीन पूरे हो जाते हैं। अनुशासन का अर्थ उस किस्म का नियंत्रण है, जो पेट भर जाने पर खाना रोक देने की प्रेरणा देता है। घंटी बजने पर भूगोल की पढ़ाई रोककर भाषा की पढ़ाई आरंभ करने की प्रेरणा अनुशासन की अवधारणा से बाहर की चीज है। घंटी के जरिए बच्चे की कार्यप्रणाली और रुचि का धीरे–धीरे इतना नियमन हो जाता है कि अंततः वह किसी थोपे गए कार्यक्रम के बिना काम करने में असमर्थ हो जाता है। उसका आत्मविश्वास मर जाता है, जिम्मेदारियाँ एक बोझ लगने लगती हैं और एक–रूढ़ दिनचर्या ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य और साधन बन जाती है।

अनुशासन को शासन से पृथक करने के लिए अक्सर कहा जाता है कि अनुशासन भीतर से जन्म लेता है, शासन की तरह बाहर से थोपा नहीं जाता। 'भीतर' और 'बाहर' की यह भिन्नता बहुत सहायक नहीं प्रतीत होती, क्योंकि शासन की प्रभाव–क्षमता काफी समय तक क्रियाशील रहने पर 'भीतर' पहुँच सकती है। लंबे अरसे तक गुलाम रह चुके समाज जिस नियंत्रण से ग्रस्त या परिचालित होते हैं, वह उनके सामूहिक व्यक्तित्व में इतनी गहराई तक प्रवेश कर चुका होता है कि किसी व्यक्ति में उसे 'बाहरी' और 'भीतरी' के दायरों में बाँटकर देखना संभव नहीं रह जाता। कोई व्यक्ति अनुशासित है या गुलाम, इसका पता यह जानकर किया जा सकता है कि वह व्यक्ति दूसरों की आजादी को किस रूप में और कितनी सीमा तक स्वीकार करता है, जो स्वयं गुलामी कबूल कर चुके हैं, उन्हें दूसरों की आजादी गँवारा नहीं हो सकती। आदेशों और ढेर सारे नियमों से बँधे रहकर काम करने की आदत धीरे–धीरे उन प्राकृतिक क्षमताओं को पूर्णतः नष्ट कर देती है, जिनसे हम सामूहिक जीवन में आपसी संबंधों को संतुलन की अवस्था में रखते हैं। आदेशों के अनुसार काम करने वाले व्यक्ति को यह असंभव लगता है कि कोई आदेशों के बिना भी मुस्तैदी और शांति के साथ काम करते हुए जी सकता है। किसी समाज में आजादी का स्तर पता लगाने के लिए बच्चों के प्रति वयस्क सदस्यों के दृष्टिकोण को एक कसौटी की तरह इस्तेमाल किया जा सकता है। जो समाज बच्चों को नियंत्रण में रखना ही उनके लिए सर्वोत्तम मानता है, उनकी निजी इच्छाओं, आदतों और काम करने के तरीकों को संदेह की निगाह से देखता है, उस समाज की आजादी स्वयं बहुत संदिग्ध होती है।

स्कूल में अनुशासन की जिस अवधारणा का इस्तेमाल सामान्य तौर पर मिलता है, उसे सैन्य कहना अनुचित न होगा। वास्तव में बचपन का बड़े पैमाने पर सैन्यीकरण हो चुका है। राजनेता अक्सर कहतें हैं कि आज के बच्चे ही कल एक मजबूत राष्ट्र बनाएँगे। ऐसी रूढ़ उक्तियाँ बार–बार पढ़ने और

सुनने से बच्चे अपने बालजीवन के प्रति कुंठाग्रस्त हो जाते हैं। वे यह सोचने के अदी हो जाते हैं कि वे फिलहाल कोई 'बड़ा' काम नहीं कर सकते, क्योंकि अभी वे छोटे हैं, सभी महत्त्वपूर्ण काम वे बचपन की सीमा लाँघकर ही कर सकेंगे। बचपन के आनंद और संघर्ष उनके लिए बोदे और निष्प्रयोजन हो जाते हैं। वे एक अजीब तरह की अधीरता से ग्रस्त हो जाते हैं। वे जल्दी–से–जल्दी बड़े हो जाना चाहते हैं और इस बलवती इच्छा के प्रभाववश बचपन के वर्षों की सार्थकता से वंचित रह जाते हैं। भारतीय समाज में सुविधाजनक पदों के लिए होनेवाली प्रतियोगिता के तीव्रतर होने के साथ–साथ बच्चों में जल्दी बड़े होने की हड़बड़ी और जीवन की एक 'मंजिल' तय कर लेने की जरूरत बढ़ती जा रही है। 'तुम क्या बनोगे?' यह सवाल मध्यवर्ग का लगभग प्रत्येक बच्चा दस–ग्यारह वर्ष की आयु पार करते–करते अपने सामने पाता है और अपने सीमित अनुभव के आधार पर किसी प्रकार इसका उत्तर सोच लेता है। उसका उत्तर उसकी महत्त्वाकांक्षा का प्रतीक नहीं होता, केवल एक उत्तर जल्दी से तलाश लेने की विवशता का हल होता है। वह एक कुंठा बन जाता है, और कुछ ही वर्षों के भीतर यह कुंठा उसकी कोशिशों को नियंत्रण करने लगती है। इस तरह, वयस्क बनने से बहुत पहले वह अपने बचपन से कट चुकता है। बचपन के सारे अनुभवों और प्राकृतिक गुणों का स्रोत उसके लिए बहुत पहले सूख चुका होता है। इस घटना को बचपन का सैन्यीकरण कहा जा सकता है। बड़ा और जिम्मेदार महसूस करने की खातिर बच्चा अपने छोटे कद और सीमित सामर्थ्य को एक कुंठा बना लेता है। बड़ों की तरह बर्ताव करने की हविश उसके व्यक्तित्व पर छा जाती है। वह एक नन्हा आज्ञाकारी सैनिक बन जाता है।

बचपन के सैन्यीकरण का एक पहलू यूनीफार्म है। यूनीफार्म का औचित्य उस पुरानी बहस का एक लोकप्रिय मुद्दा, जो शिक्षा में व्यक्तिमुखी और सामाजिक तत्त्वों को अलग करने की कोशिश से आरंभ होती है। व्यक्तिमुखता के वकील मानते हैं कि हमें बच्चे को दूसरों से भिन्न दिखने के अधिकार से वंचित नहीं करना चाहिए। इसके खिलाफ यह तर्क दिया जाता है कि यूनीफार्म बच्चों को अपने अलगाव समाज में घुला देने की प्रेरणा देता है। यदि इस तर्क को गंभीरतापूर्वक लेना हो तो इसे देनेवालों से पूछा जाना चाहिए कि समाज में विलयन बड़ों के लिए भी उतना ही जरूरी है जितना बच्चों के लिए, फिर बड़ों के लिए यूनीफार्म क्यों नहीं? क्या केवल इस अंधविश्वास के कारण कि बच्चे स्वभाव से अराजक होते हैं और उनका समाजीकरण यूनीफार्म–जैसे प्रकट तरीके से करना जरूरी है, जिससे वयस्क होने तक ऐसे किसी तरीके की जरूरत न रह जाए? यूनीफार्म को लेकर व्यक्ति और समूह की चर्चा छेड़ना ऐसे समाज में व्यर्थ है जहाँ आर्थिक असमानताएँ इतनी विषम और स्पष्ट हैं कि महज कपड़ों की समानता से नहीं छिप सकतीं। कक्षा में आर्थिक असमानताएँ जितने स्पष्ट रूप से दिखेंगी, बच्चों का समाजीकरण उतनी ही तेजी और मजबूती से होगा। एक–दूसरे के निजी जीवन की विवशताओं या सुविधाओं को साफ–साफ देखकर बच्चे समाज का ज्यादा सही परिचय पा सकेंगे। असमानताएँ ढक दिए जाने पर एक प्रकार का कृत्रिम आवरण कक्षा में उपस्थित हो जाता है जबकि मेल–जोल के दायरे पूर्वतः (यानी असमानताओं के मुताबिक) बने रहते हैं।

बच्चों पर अध्यापकों और अभिभावकों के नियंत्रण का एक प्रचलित माध्यम उनकी कल्पना पर ऐसे चरित्र नायक हावी कर देना है, जिनका कार्यक्षेत्र राजनीतिक रहा हो। 'कौन बनोगे?' यह सवाल किताब, कक्षा या घर में लगभग हर बच्चे से पूँछा जाता है और इसके उत्तरस्वरूप उसे बड़े राजनेताओं के नाम रटा दिए जाते हैं। 'यदि मैं प्रधानमंत्री होता' जैसे विषयों पर निबंध लिखने के लिए कहकर अध

यापक बच्चे को बड़प्पन की एक अत्यंत सीमित धारणा पोसने को विवश कर देता है, साथ ही बड़प्पन और सामान्यत्व के बीच एक मोटा विभाजन उसकी विचारणा में स्थापित हो जाता है। किशोरावस्था में अनेक बच्चे इस विभाजन के मानसिक दुष्परिणाम निराशा और आत्महीनता के रूप में बर्दाश्त करते हैं। वयस्क समाज के कुछ निकट संपर्क में आने पर वे पाते हैं कि पद और सम्मान की दौड़ आर्थिक अवरोधों से भरी है। बचपन के गुलाबी संसार का लोप बच्चे में खीझ और अपने में अविश्वास छोड़ जाता है। इसका अंतिम लाभ राजनीतिक सत्ता को मिलता है। युवा प्रजा के तौर पर उसे अपने प्रति हीनता से ग्रस्त और राजनीतिक ताकत के प्रति समर्पित नागरिक मिलते हैं।

बच्चों के राजनीतिक इस्तेमाल के प्रति समाज में जानकारी और उसकी नियमित समीक्षा आवश्यक है। सरकारी दृष्टिकोण से हम आजाद हैं, पर हमारी सभी महत्त्वपूर्ण व्यवस्थाएँ–जैसे प्रशासन, कानून और शिक्षा, औपनिवेशिक काल की देन हैं। इनके प्रति पूरे समाज में समीक्षायी चेतना ही एक ऐसे राज्य की तलाश में मदद कर सकती है, जिसकी शिक्षायी राजनीति समतामुखी हो। यह तलाश शिक्षा में अलग से नहीं की जा सकती, एक व्यापक राजनीतिक संदर्भ में ही की जा सकती है। ऐसे संदर्भ की तलाश करते समय हमें भारतीय जनतंत्र के स्वभाव पर अवश्य ध्यान देना होगा। विशेष तौर से हमें इस बात पर गौर करना होगा कि जनतंत्र अभी तक भारत को सामंती संस्कारों से मुक्त क्यों नहीं कर पाया। साथ ही यह भी सोचना होगा कि भारत पर मध्यवर्ग शिक्षा के क्षेत्र में औपनिवेशिक परंपराओं को तोड़ क्यों नहीं सका। आमतौर पर मध्यवर्ग जनतांत्रिक चेतना का वाहक माना जाता है।

अन्त में कहा जा सकता है कि शिक्षा के क्षेत्र में सभी अभिभावकों को समवेत रूप से शासन से लड़ना चाहिये, तभी अपने हितों की रक्षा सम्भव है। जब तक अभिभावक और शिक्षक–छात्र की त्रिवेणी एक सीध में नहीं होंगे तब तक शिक्षा में सुधार का शंखनाद केवल अरण्यरोदन ही रहेगा। प्रत्येक अभिभावक यह तो चाहता है कि हामरी संतान अच्छी शिक्षा ग्रहण करें; परन्तु बहुधा इस विचारधारा के भी पोषक हैं कि शिक्षा के साथ मेरी आर्थिक सहायता भी करे। वस्तुतः छात्र को पढ़ने के लिए जब तक स्वतंत्र नहीं किया जायेगा तब तक वह सही शिक्षा नहीं ग्रहण कर सकता।

संदर्भ स्रोत

1. कौल लोकेश (1998) : शैक्षिक अनुसंधान की कार्य प्रणाली, विकास पब्लिसिंग हाउस प्रा. लि. नई दिल्ली
2. राय, पारस नाथ (1997) : अनुसंधान परिचयम, अग्र एण्ड सन्स प्रिन्टर्स, आगरा
3. पाण्डेय, के.पी. : शैक्षिक अनुसंधान की रूपरेखा, अमित प्रकाशन, मेरठ
4. शर्मा, आर.ए. (1998) : शिक्षा अनुसंधान, आर लाल बुक डिपो, मेरठ
5. श्री शालिग्राम त्रिपाठी : भारतीय शिक्षा का इतिहास, आविष्कार पब्लिशर्स जयपुर 302003
6. शिक्षा और समाज श्री नत्थूलाल गुप्त, आविष्कार पब्लिशर्स जयपुर 302003
7. शिक्षण कला श्री शालिग्राम त्रिपाठी, आविष्कार पब्लिशर्स जयपुर 302003
8. शैक्षिक योजना और प्रशासन (1988) : दूरवर्ती शिक्षा विशेषांक, दीपा, नई दिल्ली।
9. श्रीवास्तव, शंकरशरण (1998) : शिक्षा में नवाचार एवं आधुनिक प्रवृष्टियाँ, मेसर्स हरप्रसाद भार्गव, आगरा।

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUNE, 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

'कपिल पुराण में व्याकरण चिन्तन'

❒ डा. धनेन्द्र प्रसाद द्विवेदी

शोध सारांश

व्याकरण वह शब्द शास्त्र है जो सर्वशास्त्रोपकारक है साथ ही जिसके द्वारा भाषा का विशुद्ध एवं परिमार्जित रूप सामने आता है। शब्द की व्याक्रिया करना ही व्याकरण पद व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ माना जाता है– व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा येन तद्व्याकरणम्' व्याकरण वह अजिह्मा राज पद्धति है जिस पर अबाधरूप से चलते हुए भाषा की समस्त विधाओं का आलोडन भली–भाँति किया जा सकता है। भारतीय साहित्य में वेद को सबसे प्राचीन ग्रन्थ मानते हुए अपौरुषेय भी माना गया है। ऋग्वेद में व्याकरण के तत्वों को प्रतिपादित करते हुए उसे चार सींगों, तीन पादों, दो सिर तथा सात हाथों वाला बताया गया है जो सम्पूर्ण शब्द राशि को अपने में आबद्धकर मानव जीवन को प्रभावित करता है। प्रस्तुत शोध का यही विवेच्य विषय है।

महर्षि वेदव्यास द्वारा विरचित 18 महापुराण हैं तथा उसी प्रकार 18 उपपुराण और 18 औप पुराणों की रचना उन्हीं के द्वारा की गयी है। पुराणोपपुराण के उक्त संख्या का समर्थन निम्न पुराण वचन से होता है–

महापुराणान्येतानि ह्यष्टादश महामुने।
तथा चोपपुराणानि मुनिभिः कथितानि च।।[1]

उपपुराणों में जो वर्णन होता है उसका सम्बन्ध महापुराणों से ही होता है जिनका श्रोत महापुराणों को ही माना गया है। विलक्षणता और चमत्कार लाने के लिए कहीं–कहीं कथावस्तु में परिवर्तन अवश्य दृष्टिगोचर होता है। उक्त संख्यात्मक उपपुराणों की मान्यता निम्न पद्य से भी स्पष्ट होती है–

तथैवोपपुराणानि यानि चोक्तानि वेधसा।[2]

महापुराणों में जहाँ भी उप पुराणों की चर्चा है वहाँ प्रोक्त संख्या का ही समर्थन है–

अष्टादशपुराणनामेवभेव विदुर्बुधाः।
एवंचोपपुराणानामष्टादश प्रकीर्तिताः।।[3]

उक्त संख्यात्मक उपपुराणों की गणना निम्नानुसार महापुराणों में की गयी है–

1. आदि, 2. नरसिंह, 3. स्कन्द, 4. शिवधर्म, 5. दुर्वासा, 6. नारद, 7. कपिल, 8. वामन,

* अतिथि विद्वान्, शास. संस्कृत महाविद्यालय भितरी, जिला–सीधी (म.प्र.)

9. औरानस, 10. ब्रह्माण्ड, 11. वरुण, 12. कालिका, 13. माहेश्वर, 14. शाम्ब, 15. सौर, 16. पराशर, 17. मारीच, 18. भास्कर। यह कूर्म पुराण के अनुसार परिगणित है।[4] उक्त परिगणना में 'कपिल' उपपुराणों में से सातवां हैं; पद्मपुराण के अनुसार छठे क्रम में कपिल का नाम है[5] तथा वायुपुराण में तो कूर्मपुराण की तरह सातवां ही कपिल उपपुराण का स्थान है।[6]

उपर्युक्तानुसार सभी महापुराणों में जहाँ–जहाँ उपपुराणों की सूची दी गयी है उन सभी में क्रम का निर्देश आगे–पीछे कहीं–कहीं अवश्य दृष्टिगोचर होता हैं; किन्तु यह सिद्ध होता है कि यह उपपुराण ही है।

कपिल पुराण में 21 अध्याय हैं जिसमें राजा शल्यजित के द्वारा विविध पवित्र क्षेत्रों के माहात्म्य जानने के लिए भगवान कपिल से प्रश्न किया था, उनके द्वारा वर्णन किये जाने के कारण ही इस उपपुराण का नाम कपिल हुआ। यथा–

कथयामि रहस्यं त्वां श्रृणुष्वैकमना नृप !
येषां स्मरणमात्रेण कल्मषा यान्ति वै क्षयम्।।[7]

यद्यपि यह लघु कलेवरात्मक उपपुराण है जिसमें 1076 श्लोक उक्त संकेतित अध्यायों में विभक्त हैं। तथापि इस उपपुराण में वर्णित तीर्थों के विवरण प्रस्तुत होने से इसका माहात्म्य अद्भुत है। जिसमें उत्कृष्ट श्रेष्ठत्व, पुरुषोत्तम क्षेत्र, नीलाचल, विरजाक्षेत्र, एकाम्र क्षेत्र, विन्दु सरोवर, पादहरा देवी क्षेत्र का सजीव वर्णन है। जिसका माहात्म्य निम्न पद्यांशों से स्पष्ट होता है–

'सर्वपापहरं देशमौड्रं देवैस्तु कल्पितम्।'[8]
'उत्कलेन समो देशो देशो नास्ति महीतले।'[9]
'साक्षात् बैकुण्ठरूपं तत् क्षेत्रं श्रीपुरुषोत्तमम्।'[10]
'कथयामि महापुण्यं विरजाख्यं सुनिर्मलम्।'[11]
'क्षेत्रमेकाम्रकं श्रीमत् परमानन्ददायकम्।'[12]
सर्वतीर्थमयं ह्येतत् एकाम्रवनसंज्ञितम्।[13]
स्वर्गे मर्त्ये च पाताले ह्यन्तरिक्षे तथा दिशि।
न भूतं न भविष्यं च तीर्थं बिन्दूद्भवात् परम्।।[14]

उपर्युक्त पद्यांशों के माध्यम से जो चित्रण प्राप्त होता है इससे यह स्पष्ट होता कि तीर्थों के प्रति जैसी आस्था एवं निष्ठा प्रकट की गयी है उससे इस उपपुराण की रचना उत्कल देश (ओडिशा) में होने की पुष्टि होती है।

कपिल मुनि :–

भारतीय षड्दर्शनों में सांख्य दर्शन सबसे प्राचीन माना गया है जिनके आचार्य कपिल मुनि हैं। वेद भाष्यकर्ता आचार्य सायण ने सांख्य शास्त्र के प्रणेता कपिल को ही माना है और वहीं कपिल जो श्रीमद्भागवत के तीसरे स्कन्ध चौबीसवें अध्याय में वर्णित है।[15], जिन्होंने महर्षि कर्दम को पिता तथा देवहूति को अपनी माता बनाया था। जिन्हें कूर्म पुराण में हिरण्यगर्भ का विशेषण दिया गया है।[16]

इसी प्रकार से उन्हें कपिलर्षि परमार्थ वेत्ता, विष्णु के अंश कपिल भगवान, सांख्याचार्य, यतीश्वर आदि नाम से जाना जाता है। देवी भागवत में उन्हें निम्न पद्यानुसार निरूपित किया गया है–

कपिलः सांख्यवेत्ता च वेदाभ्यासरतः शुचिः।
तेनापि दैवयोगाद्धि प्रदग्धाः सगरात्मजाः।।[17]

पुराणानुसार ये वही कपिल है जो कपिल पुराण के उपदेष्टा है। सांख्य के कपिल निरीश्वर है जबकि पुराण और महाभारत के कपिल सेश्वर हैं–

सांख्याचार्यः सर्वलोके विख्यातः कपिलो विभुः।
कपिलोऽपि महायोगी भगवान् स्वाश्रमे स्थितः।।[18]

यद्यपि कपिल मुनि के विषय में अनेक विद्वान अपना–अपना चिन्तन अपने मति–गति के अनुसार किया है। अतः एक ही कपिल के विषय में मतैक्य होना सम्भव नहीं हैं; किन्तु पूर्वोक्त प्रमाणों से सिद्धेश्वर कपिल वहीं है जो गंगासार में तपस्यारत

वर्णित हैं। उक्त पुराण में वर्णित सभी क्षेत्रों का अनुशीलन कर विस्तार से प्रतिपादन किया गया है जो यथास्थल द्रष्टव्य है।[19]

व्याकरण चिन्तन :–

व्याकरण वह शब्द शास्त्र है जो सर्वशास्त्रोपकारक है साथ ही जिसके द्वारा भाषा का विशुद्ध एवं परिमार्जित रूप सामने आता है। शब्द की व्याक्रिया करना ही व्याकरण पद व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ माना जाता है– व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा येन तद्व्याकरणम्' व्याकरण वह अजिह्मा राज पद्धति है जिस पर अबाध रूप से चलते हुए भाषा की समस्त विधाओं का आलोडन भली–भाँति किया जा सकता है।

भारतीय साहित्य में सबसे प्राचीन वेद को माना गया है जो अपौरुषेय है। ऋग्वेद में व्याकरण के तत्व को निम्नानुसार प्रतिपादित किया गया है–

चत्वारि श्रृङ्गास्त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधाबद्धो वृषभो रोरवीति महो
देवो मर्त्या ँआविवेश।।[20]

उक्त वैदिक मन्त्र की व्याख्या में चार सींग (नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात) तीन पैर = तीन काल (भूत, भविष्य, वर्तमान) दो शिर = नित्य कार्य शब्द, स्फोट नाद (सुप, तिङ्) सात हाथ = विभक्तियाँ (प्रथमा–सप्तमी) तीन स्थान में बधा हुआ (हृदय, कण्ठ, शिर यानी एकवचन, द्विवचन और बहुवचन) वह वृषभ स्वरूप शब्द मनुष्य में आविष्ट होकर वाक् रूप में उच्चरित होता है।

ऐसा वह शब्द क्या है? यह जिज्ञासा शमन महाभाष्य के निम्न वचनों से होता है–

1. येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलक– कुदखुर– विषाणिनां सम्प्रत्यो भवति स शब्दः।[21]

2. प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते।[22]

3. क्षोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्य प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः।[23]

4. स्फोटः शब्दः, ध्वनिः शब्दगुणः।[24]

भर्तृहरि ने भी अपने शब्दों में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है–

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।[25]

अर्थात् शब्द ब्रह्म है। ब्रह्म वह है जिसका आदि अन्त नहीं। अनादि अनन्त शब्द ब्रह्म परावाक् रूप में है तथा वही पदार्थों के रूप में प्रकट होता है। इसी प्रकार से वही वाचकाभिधेयाभिधानात्मक प्रपंचोत्पादनानुकूलशक्त्यवच्छिन्न वही है। उक्तानुसार शब्द के यथार्थ का बोध बिना व्याकरण के उपायान्तर से असाध्य है। यथा–

अर्थप्रवृत्तितत्वानां शब्दा एव निबन्धनम्।
तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते।।

संस्कृत व्याकरण ने शब्द के जिस व्यापक और नित्य स्वरूप का निरूपण किया है तथा शब्द में अर्थ प्रकाशन की जिस विधा को प्रस्तुत किया है, वह अपने में अनुपम दृष्टिगोचर होती है। व्याकरण शास्त्र का आदि प्रवक्ता ब्रह्म जी को ही माना गया है–

ब्रह्म वृहस्पतये प्रोवाच, वृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः।[26]

वृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपरायणं प्रोवाच नान्तं जगाम वृहस्पतिश्च प्रवक्ता, इन्द्रश्चाध्येता दिव्यं वर्ष सहस्रमध्ययन कालः न चान्तं जगाम।[27]

उक्त विवेचन से यह अभिव्यक्त होता है कि व्याकरण की परम्परा प्राचीन एवं सनातनी है। यह तथ्य आदि काव्य बाल्मीकि रामायण के निम्न पद्य से और भी पुष्ट हो जाता है–

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।

बहुव्याहरतानेन न किंचिदपभाषितम्।।[28]

उक्त वचन से व्याकरण की प्राचीनता तथा उसके प्रयोग करने वाले व्यक्ति की भाषा शुद्धता में कौशल दृष्टिगोचर होता है जो व्याकरण का उद्देश्य भाषा शुद्धता है वह पूर्णतः इस प्रसंग से अर्थात् श्रीराम और हनुमान जी के संवाद से प्रतिबिम्बित है।

अधुना वैयाकरणो के नव नाम विक्षुत है–

ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम्।
सारस्वतं चापिशलं शाकलं पाणिनीयकम्।।[29]

उक्त वैयाकरणों में से इस समय महर्षि पाणिनि का नाम बड़े आदर से लिया जाता है जिन्होंने लौकिक तथा वैदिक उभय विध शब्द साधुत्व का प्रतिपादन किया है। उनके विषय में कृत अनुसन्धान से पता चलता है कि नन्दनृपति के समय पाटलिपुत्र में वर्ष नामक गुरु से विद्याध्ययन की कामना से पाणिनि वहाँ गये थे। विद्याकाम पाणिनि ने सनकादि सिद्धों के साथ भगवान् शंकर की आराधना की और उनके प्रसाद से चतुर्दश सूत्राात्मक वर्णसमाम्नाय की प्राप्ति उनको हुई थी।

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः।।[30]

उन्हीं चतुर्दश सूत्रों के आधार पर इन्होंने 4000 के आस–पास व्याकरण के सूत्रों की रचना की जिनमें आज की समस्त मानव समाज उपकृत है तथा विद्वानों ने जिसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है–

पाणिनीयं महाशास्त्रं पदसाधुत्व लक्षणम्।
सर्वोपकारकं ग्राह्यं कृत्स्नंत्याज्यं न किंचन।।[31]

'मुखं व्याकरणं स्मृतम्'[32], वेद रूपी पुरुष के षडंशों में व्याकरण मुख के रूप में निरूपित किया गया है। जिस प्रकार शरीर के सभी अंगों में मुख की प्रधानता और उसी से पहचान होती है जो प्रतिव्यक्ति का मुख भिन्न–भिन्न हुआ करता है जो सभी की विभिन्नता ही विशिष्ट पहचान का बोधक माना जाता है। ठीक उसी प्रकार से वेद के षडंगों में व्याकरण का प्रमुख स्थान है जो सभी प्रकार के ज्ञानार्जन में सहायक माना जाता है। वेद का ज्ञान हो, पुराण का अध्ययन हो तथा महाभारत का अनुशीलन हो या दर्शन का अनुचिन्तन हो सभी जगह व्याकरण की ही आवश्यकता पड़ती है। इसी लिए यह उक्ति चरितार्थ है– ''कणादं पाणिनीयंच सर्वशास्त्रोपकारकम्'' न्याय और व्याकरण की उपयोगिता सभी शास्त्रों के पढ़ने या समझने में पड़ती है।

कपिल पुराण को पढ़ने और समझने में व्याकरण की उपयोगिता है जिसके प्रभाव से प्रकृति प्रत्यय को योग से निष्पन्न अथवा अव्युत्पन्न जो शब्द है उनकी सिद्धि का ज्ञान होता है। अतः यहाँ पर भी व्याकरण ज्ञान का महत्व नहीं समझना चाहिए। यद्यपि यह बात पृथक् है कि इस पुराण में व्याकरण के नियम सर्वत्र नहीं दिखाई देते और न ही उनमें व्याकरण के नियमों का कतिपय स्थलों पालन भी नही होता, जिसे आर्ष प्रयोग मानकर अपाणिनीय कहा गया है। यद्यपि 'अपाणनीय प्रयोगस्तु भूषणं न तु दूषणं'[33], भी कहा गया है।

अपाणिनीय आर्ष प्रयोग :–

कपिल पुराण में काशः दृष्टिगोचर होता है जहाँ पाणिनीय व्याकरण के अनुसार सन्धि होना चाहिए किन्तु वहाँ सन्धि नही हुई जैसे मन्त्रेण अस्तुवन केदाके उदकम्, स्थित्वा इमम्, ते च अमृताश्च, अत्र इति प्रोक्तम्, तिष्ठति ईश्वरेच्छया, अत्र अग्रेसरं, तत्र एको गश्चिाम्रः, न मे आस्ते, स्थित्वा इमं मन्त्रम्, करिष्यामि अनन्यस्तु, येन अन्नाधम्, च आदिलोकम्, तत्र अनन्तेन, परित्यज्य अन्य क्षेत्राणि, लोक साक्षी अन्धक भूतवा इमं मन्त्र, अनाद्यन्त अशरीर मूर्ध्नि एवं, भाद्रणो आश्विने।[34]

कपिल पुराण के प्रोक्त उदाहरणों में पाणिनीय नियमानुसार कही दीर्घ, कहीं अयादि, कहीं यण, कहीं गुण आदि सन्धि का होना आवश्यक प्रतीत होता है, किन्तु ऐसे न होने से ऐसे प्रयोग अपाणिनीय या आर्ष प्रयोग के नाम से प्रचलित है।

लिङ्गस्वर व्यत्यय :–

यहाँ व्यत्यय से तात्पर्य परिवर्तन से है। अर्थात् पुलिङ्ग के स्थान से स्त्रीलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग के स्थान में पुलिङ्ग या नपुंसक लिंग का जो परिवर्तन शब्दगति होता है वह उक्त नाम से जाना जाता है। कपिल पुराण में यथास्थल ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं जिनका निरूपण इस प्रकार से किया गया है–

तद्दृष्ट्वा विधिवद् भक्त्या ब्रह्महत्याद विमुच्यते।[35]

प्रस्तुत पद्य में निर्दिष्ट पद पाणिनीय लिङ्गानुशासन के अनुसार 'ब्रह्महत्या' शब्द स्त्रीलिङ्ग प्रयुक्त है; किन्तु प्रोक्त पुराण में लिङ्ग व्यत्यय होने पर पुलिंग में प्रयुक्त किये जाने के कारण ब्रह्महत्यायाः के स्थान में ब्रह्महत्याद का प्रयोग है जो आर्षवचन होने से अपाणिनीय है। इसी प्रकार से दूसरा उदाहरण भी द्रष्टव्य है–

आश्रमाणि च रम्याणि तत्र सन्ति महर्षयः।[36]

उदाहरण में आश्रय शब्द पुलिंग में प्रयुक्त है किन्तु 'व्यत्ययो बहुलयम्' इस नियम से नपुंसलिंग में परिवर्तित होने से निदिष्ट पद आश्रमाणि महो गया जो पाणिनीय व्याकरण के दृष्टि से आसाधु है। इसी प्रकार से अन्यान्य उदाहरण यथास्थल प्रस्तुत किए गए हैं।[37]

उपसार्ग के विचा क्त्वा को ल्यव नहीं होता यह पाणिनीय व्याकरण का नियम है, किन्तु इस पुराण में ऐसे उदाहरण प्राप्त होते है जहाँ बिना उपसर्ग के भी कत्वा के स्थान में ल्यप् किया गया है जो अपाणिनीय है– एनं पूज्य, पितृन् तर्प्य इत्यादि।[38]

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्तानुसार 'कपिल पुराण में व्याकरण चिन्तन' पर जो प्रकाश डाला गया है वह सम्बन्धित शोध में विस्तार से प्रतिपादित है ''जो प्रकाशन योग्य है। व्याकरण के नियमों से जो सरे नहीं उतरते ऐसे प्रयोगों को भी जनना आवश्यक है जिसे अनुशीलन कर निरूपित किया गया है जो एक नूतन गवेषणा है।

शोध पत्र सार :–

''कपिल पुराण में व्याकरण चिन्तन''

उक्त शीर्षक से सम्बन्धित शोध पत्र लिखा गया जिसमें सर्व प्रथम महर्षि वेद व्यास विरचित 18 महापुराण, 18 उपपुराण के विषय में प्रकाश डाला गया–

अष्टादशपुराणानामेवमेव विदुर्बुधाः।
एवंचोपपुराणानामष्टादश प्रकीर्तिताः।।[39]

तदनन्तर उपपुराणों की गणना की गयी है जिसमें कपिल पुराण का स्थान कूर्म पुराण के अनुसार सातवां है। कपिल पुराण में 21 अध्याय, 1076 श्लोक प्राप्त होते है। इस पुराण में राजा शल्यजी ने कपिल मुनि से विविध पवित्र क्षेत्रों के विषय में जानने की अपनी प्रबल जिज्ञासा प्रकट की थी। ऐसे राजा के निवेदन करने पर महर्षि कपिल उन्हें संतुष्ट करने के लिये उत्कल, पुरुषोत्तम क्षेत्र, नीलाचल, विरजा क्षेत्र, विन्दु सरोवर आदि स्थलों को विवेचित किया जिसके कारण यह पुराण कपिल के नाम से अभिज्ञात है। उन सम्बन्धित क्षेत्रों का विश्लेषण 'कपिल पुराणस्य सामीक्षिकमध्ययनम्' नामक शीर्षकीय शोध ग्रन्थ में विस्तार के साथ किया गया है। जिसका संकेत प्रस्तुत शोध–पत्र में प्रदत्त है। कपिल मुनि के

विषय में भी संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है जो सांख्याचार्य यतीश्वर, सिद्धेश्वर आदि नामों से प्रसिद्ध हैं।

तदुपरान्त व्याकरण चिन्तन के अन्तर्गत व्याकरण की परिभाषा–व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा येन तद्व्याकरणम्' के रूप में अभिव्यक्त कर व्याकरण के महत्व और ऐतिहासिक परम्परा का संक्षिप्त चित्रण करते हुए 'कपिल पुराण में व्याकरण चिन्तन' की दृष्टि से कपिल पुराण में प्रयुक्त आपाणिनीय प्रयोगों के बारे में दृष्टिपात किया गया है। जिसमें संधि अभाव, लिंग व्यत्यय, बिना उपसर्ग के ल्यप् प्रत्यय का प्रयोग निर्दिष्ट किये गये है जिनका विशद निरूपण प्रोक्त शोध–ग्रन्थ में किया गया है। जो अपपाणिनीय आर्ष प्रयोग के नाम से संकेतित है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. विष्णु पुराण 3/6/24
2. स्कन्ध पुराण रेवाखण्ड 1/54
3. ब्र.वै. श्रीकृष्ण जन्मखण्ड 131/22
4. कूर्म पुराण पूर्वार्द्ध 1/17–20
5. पद्म पुराण पातालखण्ड 113/93–97
6. वायुपुराण रेवामाहात्म्य 8
7. कपिलपुराण 1/6
8. कपिल पुराण 2/2
9. तदेव 1/7
10. तदेव 3/6
11. तदेव 11/3
12. तदेव 11/3
13. तदेव 13/4
14. तदेव 12/12
15. श्रीमद्भागवत् 3!24/36–37
16. कूर्म पुराण 4/39
17. देवी भागवत् 6/15/42
18. देवी भागवत 82/14
19. कपिल पुराणस्य सामीक्षिकमध्ययनम्
20. ऋग्वेद 3/8/10/58
21. महाभाष्य पस्पशाह्निक
22. महाभाष्य पस्पशाह्निक
23. अउउण् सूत्र भाष्य
24. 'तपरस्तत्कालस्य' सूत्र भाष्य
25. वाक्यपदीयम् 1/1
26. ऋक्तन्त्रकार 1/4
27. महाभाष्य पस्पशाह्निक पृ. 58
28. वाल्मीकि रामायण कि. 3/39
29. कपिलपुराणस्य सामीक्षिकमध्ययनम् पृ. 203
30. पाणिनीय शिक्षा 57
31. परिभाषेन्द्रशेखर भू.पृ. 9
32. पाणिनीय शिक्षा
33. कपिल पुराणस्य सामीक्षिकमध्ययनम् पृ. 205
34. कपिल पुराण 1/15, 8/24, 6/62, 9/5, 17/39, 15/55, 11/43, 16/40, 18/42, 19/12, 6/24, 6/66, 11/77, 11/48, 16/10, 16/33, 18/34, 18/46, 19/80
35. तदैव 5/11
36. कपिल पुराण 16/65
37. कलिपपुराणस्य सामीक्षिकमध्ययनम् पृ. 206
38. कपिलपुराण 12/18, 14/60
39. ब्रह्मवैर्क्त पुराण श्रीकृष्ण जन्मखण्ड 131/22

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUNE, 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

''साहित्यशास्त्र का प्रतिमान–काव्यादर्श''

❐ डॉ. रुचि तिवारी

शोध सारांश

आचार्य दण्डी की गद्य शैली सरल, सुबोध एवं प्रवाहमयी है। काव्यादर्श में पद्यों का सुन्दर सामान्जस्य है। उन्होंने व्यावहारिक शैली के समान ही शब्दों का व्यावहारिक चयन भी किया है। इन व्यवहारों से आने वाले वस्तुओं के परिचायक शब्दों का अर्थ संस्कृत कोषों में बहुत किया गया है। परन्तु उन्हें प्रयोग में लाने की प्रेरणा दण्डी ने प्रदान की है। दण्डी ने व्यवहार योग बनाया है। इन शब्दों के प्रयोग से राष्ट्रभाषा में उसे सक्षम तथा सामर्थ्यशाली बनायेगा। जैसे– पान के पनडब्बा के लिए 'उपहस्तिका' लंगोटी के लिए 'मलमल', एक जोड़ी धोती के लिए 'उद्गमनीय', पानी निकालने के पात्र के लिए (डोल) के निमित्त 'उदञ्चन' भूसी के लिए 'किशारू' तक्र के लिए 'कालशेय', युद्धपोत के लिए 'मदगु,' जनपदीय सभा के लिए 'पंचवीर गोष्ठ' आदि इन शब्दों का प्रयोग अति प्राचीन होने पर भी आचार्य दण्डी ने किया है जो कि सराहनीय है। इन्होंने कुछ ऐसे वाक्य काव्यादर्श में लिखे हैं जो कि छोटे होने पर भी सरस एवं मधुर हैं– जीवितं हि नाम जन्मवतां चतुः पंचाप्यहानि'। इन्हीं गुणों के कारण प्राचीन विद्वान् तथा आलोचक जन दण्डी को बाल्मीकि तथा व्यासमुनि के बाद का तृतीय कवि स्वीकार करते हैं।

'काव्यादर्श' कवि दण्डी की अप्रतिम रचना है। संस्कृत भाषा में साहित्य एवं काव्यशास्त्र दोनों एक ही माने गए हैं। प्राचीन समय में 'काव्यशास्त्र' शब्द के लिए आरंभ से 'काव्यालंकार' शब्द का प्रयोग होता रहा है। जिसके लिए साहित्य में अलंकार शब्द सुन्दरता के लिए प्रयोग किया गया था। अर्थात् काव्य सौन्दर्य को दर्शाने वाले 'शास्त्र' के लिए 'काव्यालंकार' शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है। प्राचीन काल में 'साहित्य' शब्द का अर्थ प्रतिपादित करते हुए वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने लिखा है –

''साहित्यमनयोः शोभासालितां प्रतिकाव्यऽसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः।''

अर्थात् काव्य में सौन्दर्यबोध के लिए शब्द और अर्थ दोनों की एक सी मनोहारिणी स्थिति का नाम ''साहित्य'' है। तात्पर्य यह है कि काव्य में

* शास. केदारनाथ स्नातकोत्तर, महाविद्यालय, मऊगंज, रीवा (म.प्र.)

जितने सुन्दर अर्थ का वर्णन किया जा रहा हो, उतने ही सुन्दर शब्दों का सन्निवेश भी होना चाहिए। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि जितने सुन्दर शब्दों का प्रयोग किया जा रहा हो। उसी के अनुरूप सुन्दर अर्थ का समन्वय भी होना चाहिए।

शब्द अर्थ गौरव के ही अनुरूप होना चाहिए न कम न अधिक और अर्थ शब्द सौन्दर्य के अनुरूप होना चाहिए न कम न अधिक। यही शब्द और अर्थ की ''अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः'' हुई। इसी का नाम शब्द और अर्थ का 'साहित्य' है।

नवम् शताब्दी में काव्यमीमांसाकार राजशेखर जी ने अपने ग्रंथ का नाम 'काव्यमीमांसा तथा ग्यारहवीं शताब्दी में मम्मट ने अपने ग्रंथ का–नाम 'काव्यप्रकाश' और तेरहवीं शताब्दी में विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' नाम से इस विषय पर अपने ग्रंथ की रचना की।

कवि राजशेखर के अनुसार साहित्यशास्त्र का उदय ईश्वर से हुआ है। भगवान् शिव ने साहित्यशास्त्र का प्रथम उपदेश ब्रह्मा आदि शिष्यों को दिया इसके बाद ब्रह्मा ने अपने मानस पुत्रों की पढ़ाया। जिसमें सरस्वती का पुत्र ''काव्य–पुरुष' भी एक था। इसी काव्य पुरुष ने तीनों लोकों में साहित्यशास्त्र का प्रसार किया। किन्तु जिस प्रकार समस्त विधाओं का मूल स्त्रोत वेद माना जाता है, उसी प्रकार साहित्यशास्त्र का भी मूलस्त्रोत वेद है।

लेकिन वेदों में साहित्यशास्त्र का उल्लेख कहीं नहीं पाया जाता परंतु ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में उपमा, रूपक आदि अलंकारों के उदाहरण मिलते हैं। जैसे कहा गया है –

''जायेव पत्ये उशती सुवासा''। (ऋग्वेद 1/124/7) ''सक्तुमिव तितउना पुनन्तो।'' (ऋग्वेद 10/71/2)

काव्यादर्श में अनेक उक्तियाँ ऐसी हैं जो कि भामह के काव्यालंकार और दण्डी के काव्यादर्श में बिल्कुल एक ही रूप में मापी गई हैं।

इस प्रकार से काव्य के संबंध में आचार्य दण्डी की मान्यताओं के समान पूर्ववर्ती आचार्यों का भी अभिप्राय यही है।

कवि दण्डी और भामह ने काव्यशास्त्र के संबंध में एक ही प्रकार से विचारों को अभिव्यक्त किया है। आचार्य दण्डी काव्यशास्त्र के विद्वान् होते हुए भी गद्य साहित्य में भी अपना अप्रतिम योगदान दिया है। 'राजशेखर' ने लिखा है–

'त्रयोऽग्नस्त्रयो वेदा त्रयो देवास्त्रयो गुणाः।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषुलोकेषु विश्रुताः।।'

अर्थात् तीन अग्नि, तीन वेद, तीन देव और तीन गुणों के समान दण्डी कवि के तीन ग्रन्थ सारे संसार में प्रसिद्ध हैं।

महाकवि दण्डी के अनुसार दोषयुक्त काव्य को काव्यत्व की प्राप्ति नहीं होती, काव्यादर्श में इन्होंने स्पष्ट लिखा है :–

'तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टंकथंचन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।।'

सुन्दर चेहरे पर यदि एक भी कुष्ठ का दाग हो जाये तो जैसे मुख का सारा सौन्दर्य नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार सुन्दर काव्य में एक भी दोष आ जाने पर काव्य का सारा सौन्दर्य जाता रहता है। इसलिए काव्य में एक भी दोष की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। यही दण्डी का सिद्धांत है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि काव्यादर्श काव्याशास्त्र एवं साहित्यशास्त्र दोनों ही दृष्टि से एक महनीय रचना है। इसमें काव्य का स्वरूप, गुण–दोष, अलंकार आदि का वर्णन करके कवि ने उत्तरवर्ती आचार्यों के लिए एक मार्ग प्रशस्त कर दिया है। इनके अनुसार काव्य की सर्वमान्य परिभाषा है:–

''शरीरंतावदिष्टार्थव्यवच्छिन्नापदावली'' आचार्य दण्डी ने अपने ग्रन्थ काव्यादर्श में काव्य का स्वरूप बतलाया है। लेखन कार्य में विघ्न उत्पन्न न हो इसके लिए देवी–देवताओं की स्तुति की जाती है। आचार्य दण्डी काव्य रचना की समाप्ति एवं प्रचार–प्रसार की दृष्टि से ग्रंथ के प्रारंभ में मां सरस्वती की वंदना की है। इस प्रकार कहा है –

चतुर्मुख मुखाम्भोजवन हंसवधूर्मम्।
मानसे रमतां नित्यं सर्वशुक्ला सरस्वतीं।।

सरस्वती ब्रह्मा के मुख कमल समूह में सतत वास करने के कारण निर्दोष हैं, वेदरूपा वाणी ब्रह्ममुख वास के कारण निरस्तसमस्त पुंदूषण तथा निर्मल है, वह वाणी हमारे हृदय में रमण सप्रेम निवास करें। काव्य–लक्षण प्रपंचात्मक ग्रंथ बनाने के लिए तत्पर आचार्य के लिए सबसे महत्वपूर्ण वस्तु यह है कि उसके हृदय में निर्दोष वाणी का निवास होना चाहिए।

इसके पश्चात आचार्य ने काव्य के स्वरूपादि का वर्णन किया है। काव्य के गुण दोषों के अलग–अलग विभाग भी किये हैं।

गुण तथा दोष का विभागपूर्वक ज्ञान ये गुण हैं तथा दोष है, इस प्रकार का धर्म के भेद रूप का ज्ञान साहित्यशास्त्र के ज्ञान के बिना प्राप्त नहीं हो सकता।

इस प्रकार नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने लोक को व्यवस्थित व्यवहार ज्ञान की प्राप्ति हो सके कई प्रकारों से वदर्भी गौडीयप्रभृति रीतियाँ एवं शब्दार्थालंकारादि भेद से काव्यात्मक वाणी के निर्माण का प्रकार बताया है। आचार्य भरत ने काव्यात्मक वाणी के निर्माण प्रकार का यथावत् वर्णन कर दिया है–

अथ प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसन्धाय सूरयः।
वाचां विचित्रमार्गाणां निवबन्धुः क्रियाविधिम्।।

शरीर निर्वचन से ही प्राणभूत रीतियों का निर्वचन हो जाता है। इसीलिए आचार्य दण्डी ने कहा है–

'तैः शरीरं च काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः।'

तात्पर्य यह है कि अवसर प्राप्त होने पर काव्य के स्वरूप को इन्होंने कुछ इस प्रकार बताया है और कहा है कि काव्य का शरीर एवं उसका रूप क्या है ?

आचार्य दण्डी के अनुसार इष्ट सरस मनोहरतया इत्यादि का वर्णन करने के लिए अभिप्रेत अर्थ से युक्त शब्द को काव्य का शरीर कहा जाता है।

इस प्रकार ''इष्टार्थव्यवच्छिन्न पदावली'' को काव्यशरीर मानने वाले दण्डी के मत में रमणीयार्थ वाक्य ही काव्य होता है, वाक्य उस पद समुदाय को कहते हैं, जो योग्यता, आकांक्षा और सन्निधि से युक्त हो। अतः इनका लक्षण शब्द काव्यवादी सिद्ध होता है।

काव्य शब्द का क्या अर्थ होता है ? शब्दार्थ युगल अथवा केवल रमणीयार्थ युक्त शब्द ? इस विषय विद्वानों में मतभेद है कुछ विद्वान्रमणीयार्थ शब्द को ही काव्य मानते हैं। आचार्य दण्डी ने काव्य के तीन भेद माने हैं –

गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्।
पद्यं चतुष्पदी तच्च वृतं जातिरिति द्विधा।।

गद्य, पद्य, और मिश्र नामक तीन प्रकार से भेद होते हैं – 'वृत्तगन्धोज्झितं गद्यम्' यह गद्य के स्वरूप का कथन है। मुक्तक, वृत्तिगन्धि, उक्तलिका प्राय और चूर्णक ये चार उसके भेद हैं।

मुक्तक में समास बिल्कुल ही नहीं रहता है, वृत्तगन्धि में छन्दोबन्ध के कुछ अंश होते हैं, परन्तु उनका क्रम कायम नहीं रह पाता है। उत्कलिका प्राय में लम्बे–लम्बे समास होते हैं और चूर्णक में समास होते हैं परंतु कम। पद्य का लक्षण बताते

हुए काव्यादर्श में कहा गया है–''छन्दोबद्धपदं पद्यम्' अर्थात् छन्दोबद्ध पद को पद्य कहते हैं। पद्य चार चरणों में होता है इसीलिए आचार्य दण्डी ने 'पद्यं चतुष्पदी' कहा है। पद्य के दो प्रकार कहे जाते हैं– वृत्त एवं जाति। अक्षर संख्यात चरण को वृत्त तथा मात्रा संख्यात, चरण को जाति कहते हैं।

उदाहरण के लिए स्त्रग्धरा वृत्त एवं आर्या आदि जाति कहते हैं। पद्यकाव्य के मिश्र भेद को 'गद्यपद्यमयी' रचना भी कहा जाता है। नाटक चम्पू इत्यादि इसी के प्रभेद कहे जाते हैं।

कई आचार्यों के मत से काव्य के दो भेद बताये हैं 1. दृश्य 2. श्रव्य। इस प्रकार कहा है–'दृश्यश्रव्यत्व भेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्'। श्रव्य के भेद से काव्य आख्यायिका चम्पू है। दृश्य के भेद से नाटक, रूपक, प्रहसन आदि हैं।

इसी तारतम्य को आगे बढ़ाते हुए आचार्य दण्डी ने महाकाव्य आदि का लक्षण बताया है–

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्यलक्षणम्।
आर्शीनमस्क्रियावस्तु निर्देशो वापि तन्मुखम्।।

आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श में काव्य के लक्षण तथा काव्य के भेद का वर्णन किया है। उन्होंने काव्य को तीन भागों में विभक्त किया है – उत्तम, मध्यम और अधम। जो काव्य निर्दोष हो या जो काव्य दोष रहित हो उसे उत्तम काव्य कहा जाता है।

इस जगत् में दोष भी है और गुण भी ये दोनों परस्पर एक दूसरे के साथ ही रहते हैं इस विषय में गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है–''जड़ चेतन गुण दोषमय विस्व कीन्ह करतार'' अर्थात् चाहे जड़ हो अथवा चेतन दोनों गुण दोष से युक्त हुआ करते हैं। अतएव काव्य में भी जिसे उत्तम श्रेणी प्रदान की जाती है, यह आवश्यक नहीं है कि वह उत्तम ही हो।

कवि दण्डी गुण एवं अलंकारों के द्वारा काव्य की उत्तम स्थिति का वर्णन किया और कहा गया है–

''दोष रहितं काव्यं, उत्तमं काव्यम्।।''

काव्य में उत्तम उत्तम श्रेणी के काव्य के लिए किचिंत् काव्य की दोष प्रयोग के लिए अहर्य नहीं है कहा गया है–'एकोहि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः'' तात्पर्य यह है कि थोड़ा भी दोष काव्य के लिए भी संग्रहणीय नहीं है, यदि हमें उत्तम काव्य का चयन करना हो तो तृणमात्र दोष भी स्वीकार नहीं होंगे।

आचार्य दण्डी की शैली में अर्थ की स्पष्टता, रस की सुन्दर अभिव्यक्ति, पद का लालित्य तथा दैनन्दिन प्रयोग की क्षमता अपार है। कहा गया है–'दण्डिनः पदलालित्यम्'।

संदर्भ ग्रन्थ

1. भामह : काव्यालंकार, बटुकनाथ शर्मा, बलदेव उपाध्याय भूमिका
2. कुन्तक : वक्रोक्तिजीवितम्, राधेश्याम मिश्र
3. राजशेखर : काव्यमीमांसा, 'प्रकाश टीका'
4. ऋग्वेद
5. दण्डी : काव्यादर्श
6. भरतमुनि : नाट्यशास्त्र, बटुकनाथ शर्मा, बलदेव उपाध्याय संस्थापित
7. मम्मट : काव्य प्रकाश, हरिशंकर शर्मा ''नागेश्वरी टीका''
8. गोस्वामी तुलसीदास : रामचरितमानस, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी
9. विश्वनाथ कविराज कृत : साहित्यदर्पणः, कृष्ण मोहन शास्त्री कृत 'लक्ष्मी संस्कृति टीका' नोट्स आदि।

   वामन : काव्यालंकार सूत्राणि, गोपेन्द्र त्रिपुर हर गोपालकृत।

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUNE, 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

''आत्मज्ञान श्रेष्ठ लक्ष्य''

❒ डा. बृजेश नाथ ओझाा

शोध सारांश

आर्यावर्त का यह सुंदरतम् भरत का देश भारत जिसका हिमालय मस्तक है, गौरीशंकर शिखा है, पूर्व और पश्चिम तट इसके दो सुंदर कर कमल है यह कोई जमीन का टुकड़ा नहीं, अपितु जीता जागता राष्ट्र पुरुष है, कश्मीर इसकी करधनी है, पंजाब और बांग्लादेश इसके दो विशाल कंधे है, गंगा और यमुना इसके चरण पखारा करती हैं, पावस के काले – काले मेघ इसके कुन्तल – कुन्तल देश हैं, चंद्र और सूर्य इसकी आरती उतारा करते हैं यह वंदन की भूमि है, अभिनंदन की भूमि है, अर्पण एवं समर्पण की भूमि है। इसका कंकड़–कंकड़ शंकर है, इसका बिन्दु– बिन्दु गंगा जल है, यह विश्व का हृदयस्थल है एवं संसार के अध्यात्म की राजधानी है।

कोई आश्चर्य नहीं, रंचमात्र विस्मय भी नहीं कि दार्शनिक चिन्तन और आत्मतत्व की जिज्ञासा भारत के लिए अति प्राचीन अध्याय है। पाश्चात्य दर्शन एवं चिंतन जहाँ समाप्त होता है वहीं भारतीय चिंतन की नींव पड़ती है।

यह वह देश है जहाँ पर प्रथमतः तत्वज्ञान ने आकर अपनी वासभूमि बनाई थी, आत्मतत्व की गंगोत्री का उद्‌गम भी यहीं से हुआ है। यही वह देश है, जहाँ वैदिक ज्ञान परंपरा का प्रथमतः सूत्रपात हुआ है, यही वह देश है, जहाँ विराट का प्रथमतः अवतार हुआ है, यही वह देश है जो विश्व में एकमात्र आत्मतत्व की गवेषणा का एकमात्र केन्द्र है, यही वह देश है जहाँ के लोगों की मनीषा निरंतर तत्वज्ञान में रत रहती है, आत्मा और परमात्मा, ब्रह्म और जीव, अंश और अंशी के ज्ञान का विचार प्रथमतः यहीं उदय हुआ है।

विश्व के जिस हृदयस्थल में द्वादश अवतारों का प्राकट्य हुआ, जहाँ पर गंगा यमुना और सरस्वती की त्रिवेणी प्रवाहित होती हैं। जहाँ तक्षशिला नालन्दा और वाराणसी हिन्दू विश्वविद्यालय जैसे प्राचीन ज्ञान केन्द्र हों, जिस धरती पर भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं ही अर्जुन को तत्वोपदेश किया हो वहाँ के दार्शनिक चिन्तन और पृष्ठभूमि के संबंध में और आत्मज्ञान के परिप्रेक्ष्य में, यद्यपि जानने के लिए कहने के लिए

* विभागाध्यक्ष (संस्कृत), श्रीयुत महाविद्यालय, गंगेव, जिला-रीवा (म.प्र.)

एक ज्ञान रूपी रत्न का खजाना सा है इसी कारण इस भूमि को देवता लोग स्वर्ग से भी बढ़कर तत्वज्ञान का केन्द्र बिन्दु मानते हैं और गाते हैं–

'गायन्ति देवा किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।

स्वर्गापवर्गास्पद मार्गभूते भवन्ति–भूयाः पुरुषाः सुरत्वात्।'[1]

यदि इस भारत भूमि को अखिल ब्रह्माण्ड की ज्ञानस्थली कही जाय तो अतिश्योक्ति नहीं होगा, यह न केवल विश्व के निवासियों को, अपितु राम, कृष्ण, गौतम, महावीर, परमहंस रामकृष्णदेव, चैतन्य महाप्रभु आदि जैसे देवताओं को भी आत्मतत्व का ज्ञान कराया है। समस्त प्राच्य–प्रतीच्य–विद्वन्तमंडली अपनी जिज्ञासा, पिपासा, गवेषणा का एकमात्र केन्द्र मानकर आत्मज्ञान संबंधी अपनी मनीषा को परिष्कृत करते रहे हैं।

जिस धरती पर स्वंय आत्मतत्व का प्राकट्य हुआ हो, आत्मतत्व ने अवतार लिया हो, वहाँ आत्मतत्व के संबंध में कुछ कहना आसान–सा प्रतीत होता है।

विश्व के अन्यान्य देश चीन, जापान, सुडान, विश्व का सबसे विकसित देश अमरीका के निवासी वहाँ के भौतिक सुख–सुविधाओं एवं पाश्चात्यवादी संस्कृति से अनमनस्क होकर भारत में आकर आत्मतत्व का ज्ञान प्राप्त कर सुख और शांति प्राप्त करते हैं। विश्वनाथ की नगरी वाराणसी में आज भी इग्लैंड के सर्वाधिक अंग्रेज गंगा के किनारे मर्णकटिका के तट पर गंगा स्नान करते हुए और तत्वचिन्तन करते हुए दिखाई पड़ते हैं।

अतएव यहाँ (भारतभूमि) पर आस्तिक एवं नास्तिक अभ्यदर्शनों का सर्वाधिक विकास हुआ है जिसके द्वारा हमें आत्मतत्व का ज्ञान प्राप्त करने में एक परम गुरु की भाँति सहायक सिद्ध होता है।

समस्त जीवित प्राणियों की तरह मनुष्य भी अपने जीवन को बनाए रखने के लिए संघर्षरत है किन्तु मनुष्य एक विवेकशील प्राणी होने के कारण प्रत्येक अनुष्ठान–कार्य के अवसर पर अपनी विचार शक्ति का उपयोग करता है चाहे वह उस कार्य को संपादित करने की शक्ति रखता हो या नहीं यद्यपि प्रत्येक मनुष्य का दर्शन होता है चाहे वह उसे जाने या न जाने इस तरह दर्शन हमारे जीवन से समवाय संबंध है। हम उसे अपने जीवन से पृथक नहीं कर सकते यदि किसी प्रकार कोई उसे पृथक कर फेंकने का दुःसाहस करे तो उसका जीवन बुद्धिजीवी चेतनप्राणी का जीवन न होगा यह तो नैसर्गिक प्रवृत्तियों के दासभूत पशुतुल्य जीवन होगा। शास्त्रों में आया है कि–

'आहारनिद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणां।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।[2]

अर्थात् मनुष्यों के साथ आहार, निद्रा, भय, मैथुन के विषय में एकरूपता होने पर भी मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता है–धर्म–धारण करने वाला वस्तु समुदाय, विवेक उसका विचार या उसका दर्शन।

प्राचीन दर्शन का प्रमुख उद्देश्य आत्मज्ञान ही है। प्राचीन दार्शनिकों ने ब्रह्माण्ड तथा पिण्डाण्ड का ऐक्य सर्वतोभावेन आत्मा किया है और ब्रह्म तथा आत्मा की एकता प्रतिपादित की है। आत्मा कोई अलभ्य तथा अलौकिक और अद्भुत पदार्थ नहीं है, प्रत्युत – प्रत्येक प्राणी अपने भीतर नियामक (अन्तर्यामी) आत्मा के रूप में उसी की सत्ता का अनुभव किया करता है। इसीलिए ब्रह्म का साक्षात्कार करने तथा उसे सम्यक् जानने का सबसे बड़ा उपाय है आत्मा का अभिज्ञान और साक्षात्कार करना। जगत् के समस्त प्रिय पदार्थों में श्रेष्ठ पदार्थ आत्मा ही है।

क्या आत्मा की श्रेष्ठता प्रमाणित करने की आवश्यकता है? जीवन के समस्त क्रिया–कलापों

के बीच इसी की शक्ति काम करती हुई दीख पड़ती है। विद्यालयों के छात्र कितनी लगन (एकाग्रता) में विद्याध्ययन में प्रवृत्त रहते हैं? किस उद्देश्य से? मानना पड़ेगा कि ज्ञान प्राप्ति की ही कामना से। ज्ञानोपलब्धि का फल है धन, धन से कौटुम्बिक सुख और कौटुम्बिक सुख का अंतिम लाभ है–आत्मसुख क्योंकि इसके बिना समस्त सुख नगण्य से होते जाते हैं। इसीलिए कहा गया है कि कहीं से भी देखा जाय प्रिय पदार्थों की गणना में आत्मा ही प्रियतम (श्रेष्ठ) ठहरता है। इस विशाल विश्वरूपी वृत्त के केन्द्र में स्थित होने वाला है – यही आत्मा। प्रियतम होने के कारण ही पुत्र वत्सल करुणामयी माता की भाँति श्रुति उपदेश देती है कि आत्मतत्व का साक्षात्कार करो –

''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः''[3] मुक्ति की कल्पना में पर्याप्त मतभेद होने पर भी विभिन्न दार्शनिक इस विषय में नितान्त एकमत हैं–आत्मनः स्वरूपेण स्थितर्मोक्षः। आत्मा का ज्ञान कराना, चाहे वह ब्रह्म से भिन्न हो या अभिन्न हो, प्रत्येक दर्शन का लक्ष्य है।

शरीर एक अद्भुत यंत्र है, इसे केवल प्रकृति ही जान सकती है दूसरा कोई नहीं। वस्तुतः इस शरीर को संचालित करने वाला केवल एक आत्म तत्व ही है। आत्मा निर्विकारी है, अप्रमेय है और ज्ञानगम्य है। आत्मज्ञान ही मनुष्य को समस्त आपत्तियों से नियुक्त करा सकता है। चेतना ही, जागरूकता ही इसका फल है। शरीर के ऊपर किये गये प्रहार का प्रभाव आत्मा पर उसी तरह नहीं पड़ता जैसे बांबी को पीटने पर बांबी के अन्दर रहने वाले सर्प पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। क्योंकि बांबी के अन्दर रहकर भी सर्प उससे पृथक् है। उसी तरह शहरी के अन्दर रहकर भी आत्मा शरीर से पृथक् है।

शरीर के संसर्ग से इसमें दोष का अध्यारोप तो किया जा सकता है परन्तु उसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। जब आत्मा का प्रकाश होता है तब समस्त सन्देह, सभी भ्रम टूट जाते हैं।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे।।[4]

रस्सी में सर्प का भान तभी तक होगा जब तक प्रकाश का अभाव रहेगा, प्रकाश होते ही वह भ्रम सर्वदा के लिए नष्ट हो जाएगा। जब तक आत्मा का संसर्ग शरीर से रहता है तभी तक इसमें कालुष्य का आरोप हो सकता है अन्यथा यह तो सर्वथा निर्विकारी है। गंगा का जल यदि एक कटोरी में रखा हो और उसे सूकर स्पर्श कर दे तो वह अशुद्ध माना जाएगा परन्तु वही सूकर गंगा में प्रविष्ट होकर अवगाहन करे तो वह अशुद्ध नहीं माना जाएगा क्योंकि वह अंशी है और कटोरी का गंगाजल उसका अंश है। अस्तु अंश अशुद्ध हो सकता है, विकारयुक्त हो सकता है, परन्तु अंशी में विकार सम्भव ही नहीं है।

तात्पर्य यह है कि इस संसार में मानव सबसे बुद्धिमान प्राणी है क्योंकि उसमे विवेक है। अतः उसे आत्मा का साक्षात्कार अवश्य कर लेना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करता तो पशुत्व और नरत्व में भेद ही नही रह जाएगा। अपने आपको पहचानने के लिए ही आध्यात्मिक धारा का अभ्युदय हुआ है। इसी अपना, समाज का और लोक का मंगल निहित है।

संदर्भ सूची

1. सुभाषित पृष्ठ 20
2. नीतिशतक – 28
3. कठोपनिषद् – 44
4. भा.पु.–1/2/18

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUNE, 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

ब्रिटिशकालीन भारतीय शिक्षा का आधुनिक भारतीय शिक्षा प्रभाव

❐ डा. पंकज सिंह तिवारी

शोध सारांश

भारत मे परम्परागत शिक्षा से अंग्रेजों को ऐसा आभास हुआ कि इससे न तो इन्हें कोई लाभ होगा और न ही अग्रेजों को ही क्योंकि, अंग्रेज व्वसायी थे और भारतीय शिक्षा अध्यात्मक्रेन्द्रित थी। फलतः उन्होंने अपनी कम्पनियों में अपनी व्यवस्था के अनुरूप योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति के लिए भारतीय शिक्षा पद्धति में आमूलचूल परिवर्तन किया। जिससे कुछ भारतीय क्रुद्ध हुए तथा कुछ भारतीयों ने इसे उन्नति का मूल सूमझा। उक्त शिक्षा का समाज पर व्यापक असर हुआ जो शोध का मुख्य विषय है।

सर्वप्रथम तत्कालीन गर्वनर जनरल लार्ड मिण्टो 1793 के आज्ञा–पत्र में पुनरावर्तन कर धारा–43 में संशोधन कर 1813 में धारा–43 के तहत पाश्चात्य शिक्षा तथा ज्ञान को भारत में लोकप्रिय करने के लिए 1 लाख रुपये व्यय करने की घोषणा कि परंतु इसको ज्यादा स्पष्ट नहीं किया गया कि इसे खर्च कैसे करना है।

सन् 1813 के आज्ञापत्र के अनुसार भारत में जनसाधारण की शिक्षा का सम्पूर्ण दायित्व कम्पनी का था तथा इस कार्य हेतु प्रतिवर्ष 1 लाख रुपये की धनराशि सुरक्षित कर दी गई थी। इसके लिए 1823 ई. में एक लोक शिक्षा समिति की स्थापना की गई। इस लोक शिक्षा की सामान्य समिति में 10 सदस्य थे, इनमें दो दल थे एक प्राच्य–विद्या समर्थक दल एवं दूसरा आंग्ल दल था जो अंग्रेजी को शिक्षा के माध्यम का समर्थक था। सन् 1833 के राजपत्र में शिक्षा हेतु सन् 1813 के राजपत्र में जो राशि 1 लाख रुपये थी उसे बढ़ाकर 10 लाख रुपये कर दिया गया तथा कम्पनी जाति, धर्म, वर्ग का भेद समाप्त कर सभी व्यक्तियों को शैक्षिक योग्यता व कार्यक्षमता के आधार पर समान पक्ष प्रदान कर दिया। तत्कालीन गर्वनर जनरल लार्ड विलियम बैंटिक ने 13 जून 1834 को लार्ड मैकाले को जनशिक्षा समिति का अध्यक्ष नियुक्त कर दिया गय। मैकाले में अंग्रेजी शिक्षा तथा सभ्यता का प्रभाव अत्याधिक था तथा उसे इस बात पर अत्यन्त गर्व था। उनका कहना था "इग्लैण्ड की सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह भारतीयों के लिए ऐसी

* पुष्पराज नगर, रीवा (म.प्र.)

शिक्षा व्यवस्था का प्रबन्ध करे, जो सभी प्रकार से उनके स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद हो, इसमें हमें उनकी रुचि के अनुसार नही चलना है। अतः अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार–प्रसार के लिये उन्होने इस प्रकार के व्यक्तियों के निर्माण पर बल दिया, जो सरकार तथा जनता के लिये तो मध्यस्थ अथवा दुभाषिये का कार्य कर सके। "वे शक्ल और रंग से तो भारतीय हो किन्तु रुचि, विचारधारा तथा नीति व शिक्षा में पूर्णतया अंग्रेज हो।"

मैकाले, द्वारा प्रतिपादित शिक्षा नीति द्वारा हमारा विदेशों के साथ सम्पर्क हुआ और देश में नवचेतना आई। इस प्रकार उसने भारत में व्याप्त रुढ़िवादी शिक्षा के स्थान पर प्रगतिशील शिक्षा की शुरुआत की। मैकाले के आने से भारत में चली आ रही अस्थिर शिक्षा नीति का एक निश्चित दिशा मिली, जिससे शिक्षा का विकास हुआ जो प्रायः अबरुद्ध सा हो गया था, विकसित दिशा में अग्रसर होने लगा। इस प्रकार मैकाले ने पाश्चात्य भाषा, साहित्य और ज्ञान विज्ञान की वकालत करके भारत के लिए इसके द्वार खोल दिये और भारतीय भी ज्ञानप्राप्ति के लिए इंग्लैण्ड, अमेरिका, फ्रांस, और जर्मनी आदि देशों में जाने लगे।

सर चार्ल्स बुड ने 19 जुलाई सन् 1854 के घोषणा–पत्र में शिक्षा नीति को एक नया रूप दिया गया। जिसमें 100 अनुच्छेदों के माध्यम से व्यापक विचार एवं अध्ययन किया गया। इस घोषणा–पत्र में सर्वप्रथम देशी व विदेशी सभी शिक्षण संस्थाओं को बिना धार्मिक भेदभाव के आर्थिक सहायता प्रदान करने की संस्तुति की गई। इसी क्रम में सर्वप्रथम शिक्षा को चार स्तरों में बाँटा गया, जिसमें प्रथम स्तर पर देशी प्राथमिक विद्यालय, द्वितीय स्तर पर मिडिल स्कूल, तृतीय स्तर पर हाई स्कूल एवं चतुर्थ स्तर पर कालेज और विश्वविद्यालय को सामिल किया गया। इसमें उच्च शिक्षा सिर्फ अंग्रेजी में होगी क्योंकि अन्य कोई इतनी सशक्त भाषा नही है जो विज्ञान और पश्चिमी ज्ञान प्रदान कर सके। इन्होंने विश्वविद्यालयीन शिक्षा में विभिन्न प्रस्ताव पारित किये जिसके अनुसार–

(क) लन्दन विश्वविद्यालय की तर्ज पर अन्य विश्वविद्यालय की स्थापना की संस्तुति की गई।

(ख) कालेजों को विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध कर उन्हे विश्वविद्यालय से ही मान्यता दी जाय।

(ग) विधि व तकनीकी जैसी अन्तर्विषयक शिक्षा का भी प्रावधान किया जाय।

(घ) भारत में उच्च शिक्षा व शोध को बढ़ावा दिया जाय।

(ड़) समस्त विषयों के साथ ही विभिन्न भाषाओं जैसे संस्कृत, अरबी व फारसी की शिक्षा हेतु भी प्रोफेसरों की संस्तुति की गई।

(च) इन विश्वविद्यालयों में चान्सलर, वाइस चान्सलर व अन्य अनुभवी प्राध्यापकों को मिलाकर एक सीनेट का गठन किया गया।

(छ) समस्त महाविद्यालयों को उत्तीर्णता का प्रमाण–पत्र विश्वविद्यालय से ही प्राप्त होने का प्रावधान किया गया।

इस प्रकार वुड का घोषणा–पत्र आधुनिक भारतीय शिक्षा व्यवस्था का आधार है क्योंकि इस व्यवस्था में अनेक ऐसे प्रावधान है जो आज भी आधुनिक शिक्षा में विद्यमान है, तथा सभी प्रान्तों में सहायता अनुदान प्रणाली का शुभारंभ हो गया।

भारतीय शिक्षा आयोग, 1882

लार्ड रिपन ने 3 जनवरी 1882 को भारतीय शिक्षा आयोग का गठन किया। रिपन ने अपनी परिषद् के एक सदस्य सर विलियम हण्टर की अध्यक्षता में 20 सदस्यीय आयोग का गठन किया इसमें 7 सदस्य भारतीय थे। इस आयोग को हण्टर कमीशन या भारतीय शिक्षा आयोग–1882

भी कहा जाता है। यह आयोग समस्त शैक्षिक पक्षों पर विचार किया था। इसलिए इन्होंने उच्च शिक्षा पर प्रस्ताव पारित किये जिसके अनुसार–

(क) उच्च शिक्षा हेतु महाविद्यालयों की स्थापना पर बल दिया गया।

(ख) उच्च शैक्षिक संस्थाओं तथा महाविद्यालयों के प्रशासन तथा वित्त का सम्पूर्ण प्रबन्ध करने की जिम्मेदारी व्यक्तिगत संस्थाओं पर डाल दी गई।

(ग) राजकीय महाविद्यालय केवल उन्ही स्थानों पर खोले जाये जहाँ उन्हें खोलने की आवश्यकता हो माँग हो एवं जनता इस कार्य में असमर्थ हो।

(घ) प्राध्यापकों की नियुक्ति यूरोपीय विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त भारतीयों का प्राथमिकता दी जाय।

इस प्रकार आयोग की संस्तुतियों के अनुसार देश में महाविद्यालयों की संख्या में वृद्धि होने लगी एवं 1882 में पंजाब विश्वविद्यालय की स्थापना, 1887 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना की गई।

भारतीय विश्वविद्यालय आयोग, 1902

लार्ड कर्जन ने शिमला के गुप्त सम्मेलन के प्रति भारतीयों के विरोध को समाप्त करने के लिये 20 जनवरी 1902 को भारतीय विश्वविद्यालय आयोग की नियुक्ति की, भारत में विश्वविद्यालयी शिक्षा के स्तर में सुधार करने के उद्देश्य से आयोग की नियुक्त की गई थी। चूँकि गुप्त सम्मेलन का विरोध सभी भारतीय कर रहे थे, इसलिए कर्जन ने असन्तोष को समाप्त करने के लिए दो भारतीय शिक्षाविदों एक हिन्दू डॉ गुरुदास बनर्जी तथा एक मुसलमान श्री सैयद हसन बिलग्रामी को भी सदस्य के रुप में स्थान दिया। इस आयोग में मुख्य रुप से अंग्रेज विद्वान रैले ने अध्यक्षता की अतः इसे रैले आयोग के नाम से भी जाना जाता है। इस आयोग को निम्न उद्देश्य के आधार पर स्थापित किया गया–

(क) भारत में विश्वविद्यालयीन शिक्षा के स्तर में व्यापक सुधार करना।

(ख) भारतीय विश्वविद्यालयों के संगठन तथा प्रशासनिक ढाँचे का गहन अध्ययन व जाँच कर सुधार हेतु लाभदायक सुझाव देना।

(ग) महाविद्यालयों की सम्बद्धता के विषय में सुझाव देना तथा स्तर में सुधार हेतु सुझाव देना।

(घ) अंग्रेज सरकार द्वारा स्थापित भारत में विश्वविद्यालयों की भावी आशाओं व दशा के विषय में जाँच करना।

आयोग द्वारा दिये गये सुझाव

(क) विश्वविद्यालय के पुनर्गठन (सीनेट और सिंडीकेट के पुनर्गठन) पर बल दिया गया। जबकि नये विश्वविद्यालय पर रोक लगा दी गई।

(ख) प्रत्येक विश्वविद्यालय के लिये एक समय सीमा निश्चित की गई।

(ग) वर्तमान विश्वविद्यालयों (कोलकाता, मुम्बई, चेन्नै, इलाहाबाद तथा पंजाब) का शिक्षण संस्थाओं के रूप में पुनर्गठन किया जाना चाहिए।

(घ) विश्वविद्यालय में शिक्षण व शोध कार्य करने चाहिए।

(ड़) सीनेट में महाविद्यालयों के अध्यापकों, प्राध्यापकों का उचित प्रतिनिधित्व होना चाहिए।

(च) प्रत्येक विश्वविद्यालय के अधिकार क्षेत्र को स्पष्ट तथा निर्धारित कर दिया गया।

(छ) विद्यार्थियों को उपयुक्त डाक सुविधाएँ प्रदान की गई।

(ज) प्रत्येक महाविद्यालय में अच्छे भवन, योग्य प्राध्यापक, स्तरीय प्रयोगशालाएँ, छात्रावास तथा पुस्तकालय आवश्यक रूप से हो।

(झ) छात्रों के लिए जाने वाले शुल्क का निर्धारण विश्वविद्यालय सिंडीकेट द्वारा महाविद्यालयों की आवश्यकता तथा परिस्थितियों के आधार पर निश्चित किया गया।

भारतीय विश्वविद्यालय आयोग, 1904

कर्जन ने इस आयोग को 11 मार्च 1904 में भारतीय विश्वविद्यालय आयोग परिषद् में पारित कर दिया तथा 21 मार्च 1904 को इसे प्रकाशित किया गया। बाद में यह एक कानून बन गया जिसे भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम –1904 के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस आयोग द्वारा विश्वविद्यालय में अध्ययन तथा शोध के लिए प्राध्यापकों, व्याख्याताओं, प्रयोगशालाओं एवं पुस्तकालयों की व्यवस्था की गई। अतः इस आयोग द्वारा विश्वविद्यालयों को अनेक अधिनियम प्रदान किये गये जैसे–

(क) विश्वविद्यालयों के उपसदस्यों की संख्या 50 से कम अथवा 100 से अधिक नही होनी चाहिए तथा ये उपसदस्य आजीवन न होकर केवल 6 वर्ष तक के लिये नियुक्त किये गये।

(ख) सरकार सीनेट द्वारा बनाये नियमों में परिवर्तन अथवा संशोधन कर सकती थी और यदि चाहे तो नये नियम भी बना सकती है।

(ग) गर्वनर जनरल को इन विश्वविद्यालयों की क्षेत्रीय सीमायें निश्चित करने का अधिकार, तथा सरकार ही मात्र सीनेट से सम्बन्धित नियम बना सकती है।

(घ) विश्वविद्यालय के कार्यक्षेत्र को अत्यधिक विस्तृत तथा अपने परिसर में शोध कार्य करने की अनुमति दी गई।

कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग, 1917

प्रथम विश्व युद्ध के समाप्त होते ही उच्च शिक्षा के विकास में कार्य चल रहा था कि इसी बीच 1916 में बंगाल प्रान्त के शिक्षा संचालक सर आशुतोष मुखर्जी ने सरकार को कलकत्ता विश्वविद्यालय की समस्याओं से अवगत कराया। उस समय कलकत्ता विश्वविद्यालयों में छात्रों की संख्या बहुत अधिक हो गई थी तथा अन्य समस्याएँ जैसे कुछ विषयों में स्नातकोत्तर कक्षाएँ आरम्भ करना, अनुशासन व सम्बद्ध महाविद्यालयों से सम्बन्धित समस्याएँ इत्यादि सामने आ रही थीं।

अतः उपकुलपति व शिक्षा संचालक सर आसुतोष मुखर्जी ने इन सभी कठिनाइयों को सरकार के समक्ष रखा फलस्वरूप तत्कालीन शासन द्वारा 14 सितम्बर 1917 को लीड्स विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. माइकेल सैडलर की अध्यक्षता में कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग की स्थापना की गई। इस आयोग के अध्यक्ष सैडलर थे। अतः इसे सैडलर कमीशन 1917 के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। आयोग ने लगभग डेढ़ वर्ष के प्रयासों के उपरांत मई 1919 में अपना प्रतिवेदन सरकार को प्रेषित किया, जो 17 भागों में विभक्त एक विस्तृत प्रतिवेदन दिया। आयोग ने सम्पूर्ण शैक्षिक परिस्थितियों का अध्ययन कर यह अनुभव किया कि विश्वविद्यालयी शिक्षा में सुधार से पूर्व माध्यमिक शिक्षा में सुधार हेतु प्रयास करना अत्यन्त आवश्यक है, इसमें उच्च शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा, कलकत्ता विश्वविद्यालय, स्त्री शिक्षा, शिक्षण प्रशिक्षण तथा व्यावसायिक शिक्षा पर बहुमूल्य सुझाव दिये गये है। अतः आयोग ने उच्च शिक्षा से सम्बन्धित निम्न सुझाव दिये :–

(क) विश्वविद्यालयों को स्वायतत्ता प्रदान की जाय तथा सरकारी नियंत्रण कम व लचीला हो।

(ख) विश्वविद्यालयों को माध्यमिक शिक्षा के उत्तरदायित्व से मुक्त किया जाय।

(ग) विश्वविद्यालयों में एक शैक्षिक परिषद् हो।

(घ) विश्वविद्यालयों के आन्तरिक प्रशासन के लिये सीनेट के स्थान पर कोर्ट और सिंडीकेट के स्थान पर कार्यकारिणी परिषद् का गठन किया जाय।

(ड) विश्वविद्यालयों में सामान्य पास कोर्स व आनर्स कोर्स दोनों की व्यवस्था होनी चाहिए।

(च) विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम निर्माण और परीक्षा सम्बन्धी निर्णयों के लिए अध्ययन बोर्ड और शैक्षिक परिषदों का गठन किया जाय।

(छ) कुलपतियों का पद वैतनिक किया जाय।

(ज) विश्वविद्यालयों में व्यावसायिक विषयों– कानून, चिकित्सा, इन्जीनियरिंग के अध्ययन की व्यवस्था की जाय।

इस प्रकार सैडलर आयोग ने विश्वविद्यालय के स्तर में सुधार के लिए नयी दिशा प्रदान की।

स्वतंत्रता के बाद भारत में उच्च शिक्षा :–

स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त विश्वविद्यालय शिक्षा का निरंतर विकास हो रहा था, किन्तु प्रचलित शिक्षा प्रणाली किसी भी तरह से एक स्वतंत्र व जनतांत्रिक देश के लिए उपयुक्त नहीं थी। इसका मुख्य कारण स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय विश्वविद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों की संख्या में हो रही निरन्तर वृद्धि व उनकी शिक्षा का निम्न स्तर था। अतः भारतीय जनता उच्च शिक्षा के स्तर से असंतुष्ट थी, क्योंकि यह शिक्षा देश की तत्कालीन आवश्यकताओं को पूरा करने में भी असफल थी।

सरकार ने इस हेतु 4 नवम्बर 1948 को विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग की नियुक्ति की जिसके अध्यक्ष डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन थे। आयोग की नियुक्ति का मुख्य उद्देश्य –"भारतीय विश्वविद्यालयों के सम्बन्ध में रिपोर्ट प्रस्तुत करना तथा देश की तत्कालीन एवं भावी आवश्यकताओं के अनुरूप, उपयुक्त उच्च शिक्षा के निर्माण एवं विस्तार के सम्बन्ध में सुझाव देना था"। आयोग ने तत्कालीन विश्वविद्यालय शिक्षा की स्थिति उसकी समस्याओं और अन्य पहलुओं का विस्तृत अध्ययन कर अपना प्रतिवेदन 25 अगस्त 1949 को भारत सरकार को प्रेषित कर दिया, इसमें उच्च शिक्षा के विकास के सभी पहलुओं के बारे में सुझाव दिये गये थे। आयोग की संस्तुतियों के अनुकूल प्रभाव पड़ा तथा केन्द्रीय व शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने इस आयोग की संस्तुतियों पर अप्रैल सन् 1950 में विचार किया तथा इसकी अधिकतर संस्तुतियों को स्वीकार कर लिया पर उस समय इसकी आधारभूत संस्तुति उच्च शिक्षा को समवर्ती सूची में रखने के सुझाव को स्वीकार नही किया। इस सुझाव को सरकार ने सन् 1976 में सम्पूर्ण शिक्षा को समवर्ती सूची में सम्मिलित करने के रुप में स्वीकार किया। आयोग की संस्तुतियों के परिणामस्वरूप निम्नलिखित कार्य अबिलम्ब शुरु किये गये :–

(क) देश में तीव्र गति से विश्वविद्यालय और कालेजों की स्थापना की गई।

(ख) सरकार ने 1953 में विश्वविद्यालय अनुदान समिति को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग में बदल दिया और 1956 में एक कानून द्वारा इसे स्वायत्त संस्था का दर्जा प्रदान किया।

(ग) सरकार ने 1954 में ग्रामीण उच्च शिक्षा समिति की स्थापना की और इस ग्रामीण शिक्षा का उत्तरदायित्व सौंपा।

(घ) भिन्न–भिन्न व्यावसायिक विषयों के लिए पृथक्–पृथक् महाविद्यालयों की स्थापना की गई। तथा महाविद्यालयीन व विश्वविद्यालयीन शिक्षकों के वेतनमानों में वृद्धि की गई तथा उनकी सेवा शर्तों में सुधार किया गया। इस प्रकार आयोग द्वारा छात्रों के कल्याण के लिये कल्याण सलाहकार बोर्डों की स्थापना की गई।

राष्ट्रीय शिक्षा आयोग, 1964–66

ऐसे आयोग के गठन की आवश्यकता महसूस की गई जो विविध स्तरों पर शिक्षा के समस्त पहलुओं से सम्बन्धित हो और शिक्षा के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन करके देश की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, परिस्थितियों के अनुरूप शिक्षा सम्बन्धी नीतियों, शिक्षा के राष्ट्रीय प्रतिमान एवं शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में विकास हो सके।

अतः भारत सरकार ने देश भर के लिए समान शिक्षा नीति को निश्चित करने के उद्देश्य से 14 जुलाई 1964 को डॉ. डी. एस. कोठारी की अध्यक्षता में एक 17 सदस्यी आयोग का गठन किया गया जिसे कोठारी आयोग कहा गया इसमें 5 विदेशी शिक्षा विशेषज्ञ भी थे। इस आयोग का गठन पाँच उद्देश्य को लेकर किया गया जिसके कारण इसे पंचमुखी कार्यक्रम की संज्ञा दी गई।

इसी प्रकार आयोग ने नये महाविद्यालयों की स्थापना स्वायत्त महाविद्यालयों की स्थापना, अशंकालिक शिक्षा व पत्राचार पाठ्यक्रम सम्बन्धी सुझाव के अतिरिक्त उच्च शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश सम्बन्धी उपयोगी सुझाव भी दिये, शोध कार्य के लिए केवल योग्य, प्रतिभाशाली व परिश्रमी व्यक्तियों का चयन किये जाने की अनुशंसा भी की गई। इसी तारतम्य में शिक्षा के गुणोत्तर वृद्धि के लिए कई विधेयक पारित किये गये है। जैसे उच्च शिक्षा संस्थानों से सम्बन्धित सभी विवादों के निपटारे के लिए केन्द्र व राज्य के स्तर में शैक्षणिक न्यायाधिकरण विधेयक–2010 पारित किया गया इसके तहत राष्ट्रीय एवं राज्य स्तर के अलग–अलग शैक्षिक न्यायाधिकरणों का गठन किया जायेगा। इस प्रकार देश में उच्च शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार के लिए व्यापक स्तर पर प्रयास केन्द्रीय मानव संसाधन मंत्रालय द्वारा किये जा रहे हैं। चिकित्सकीय, प्रौद्योगकीय व प्रबंधन सहित उच्च शिक्षा के सभी क्षेत्रों में निगरानी के लिए यू.जी.सी. ए.आई.सी.टी.ई. व एम.सी.आई. जैसे विभिन्न निकायों के स्थान पर केन्द्रीय स्तर के एक नेशनल काउंसिल फॉर हायर एजूकेशन (NCHE) की स्थापना में प्रयास जहाँ मंत्रालय द्वारा किये जा रहे हैं। इस सिलसिले में शैक्षणिक न्यायाधिकरण बिल–2010 के अतिरिक्त तीन विधेयक और पारित किये गये है जो निम्न प्रकार के हैं–

1. विदेशी शैक्षणिक संस्थान (प्रवेश और परिचालन का नियमन) विधेयक 2010– इस विधेयक में 20 वर्ष का अनुभव, 50 करोड़ का फंड स्थापित एवं गलत सूचना पर 10 से 50 लाख का दण्ड निश्चित किया गया है।

2. द प्रोहिविशन ऑफ अनफेयर प्रैक्टिशेन इन दा टैक्निकल एज्यूकेशनल इस्टीट्यूशंस, मेडिकल एज्यूकेशनल इस्टीट्यूशंस एण्ड यूनिवर्सिटीज बिल–2010– इस विधेयक में विवरण पत्रिका में निहित फीस ही देय होगा अन्य फीस की माँग करने पर 50 लाख रुपये का दण्ड देना होगा।

3. द नेशनल एक्रेडिटेशन रेग्यूलेटरी अथॉरिटी फार हायर एज्यूकेशनल इस्टीट्शंस बिल–2010– उच्च शिक्षा से सम्बंधित शैक्षणिक संस्थानों को अपना व अपने सभी पाठ्यक्रमों का निदृष्टि निकायों से मूल्यांकन कराना इस विधेयक के तहत अनिवार्य किया गया है। देश में रक्षा एवं सामरिक अध्ययन के लिए अलग से एक भारतीय राष्ट्रीय रक्षा विश्वविद्यालय की स्थापना के एक प्रस्ताव को 13 मई, 2010 पारित किया जो हरियाण में गुडगाँव के बिनोला में स्थापित होगा।

संदर्भ ग्रंथ

1. शर्मा कुसुम लता : विश्वविद्यालय पुस्तकालयों में सेवाओं का प्रबंधन अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय एवं लखनऊ विश्वविद्यालय के विशेष सन्दर्भ, 2007.
2. इकवाल तरशी समर इकवाल : आजाद पुस्तकालय में सूचीकरण, 2005.
3. भाई रियाज भाई : लखनऊ एवं गोरखपुर विश्वविद्यालय पुस्तकालयों की सेवाओं से उपयोगकर्ताओं को सन्तुष्टि का तुलनात्मक अध्ययन, 2001.
4. यूसफ मोहम्मद : अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय अलीगढ़ तथा जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय नई दिल्ली के पुस्तकालयों की सेवाओं का आलोचनात्मक अध्ययन, 1996.
5. शैलेश आचार्य : विश्वविद्यालय, ग्रन्थालयों की प्रभावशीलता म.प्र. के विश्वविद्यालय ग्रन्थालयों की सेवा पद्धति का एक अध्ययन, 1994.
6. शुक्ला के.एच. : गुजरात में विश्वविद्यालय ग्रन्थालय, 1990.
7. गोपीनाथ कालभोर : विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालय ग्रन्थलयों के परामर्श, अनुदेशन एवं सूचना सेवा, 1986.
8. पटेल शेषमनी : अवधेश प्रताप सिंह विश्व–विद्यालय का वित्तीय प्रबन्ध एवं नियंत्रण, 1995.
9. तोमर व्ही. वी. एस. : मध्य प्रदेश राज्य के विश्वविद्यालयों की आर्थिक स्थिति का एक अध्ययन, 1994.

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUNE, 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

काव्यशास्त्रेषु वर्णित काव्य-प्रयोजन-कारणस्वरूपनिर्णय

❒ डा. बृजेन्द्र कुमार पाण्डेय

शोध सारांश

काव्य सौन्दर्य की परख रखने वाले शास्त्र का नाम ''काव्यशास्त्र'' है। सामान्य रूप से ''शास्त्र शब्द शासनात् शास्त्रंम्'' शासन करने वाला होने से शास्त्र कहलाता है। शासन का अर्थ मनुष्य को किसी कार्य में प्रवृत्त करना या किसी कार्य से निवृत्त करना होता है। वेद, स्मृति, धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थ मनुष्यों को सत्कर्म में प्रवृत्त होने और असत्यकार्यों से निवृत्त होने का आदेश देते हैं। इसीलिये शास्त्र कहे जाते हैं। प्रस्तुत शोध आलेख में काव्यशास्त्र के मुख्य प्रयोजन तथा उसका समाज पर होने वाले प्रभाव के विषय मे चिंतन किया गया है।

आचार्य विश्वनाथ में लिखा है– ''रामादिवत्प्रवर्तितव्यम् न रावणादिवत''[1]। साहित्यदर्पणकार आचार्यविश्वनाथ की काव्य परिभाषा है–''वाक्यं रसात्मकं काव्यं''–इसमें काव्य का लक्षण नहीं अपितु काव्य की प्रशस्ति है। जब हम पढ़ते हैं तो ऐसा अनुभव करते हैं मानो हम किसी विशिष्ट काव्य–कृति की अनुभूतियों के आनन्द से अविभूत होत हैं। ''तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावलंकृती पुनःक्वापि''[2] आचार्य मम्मट के काव्य लक्षण में किसी भी पदार्थ का अव्याप्ति अतिव्याप्ति तथा असम्भव– तीनों प्रकार के दोषों से रहित एकदम निर्दुष्ट लक्षण प्रस्तुत करना यों ही कठिन होता है। पर काव्य प्रकाशकार ने जो इस दिशा में प्रत्यन किया है वह प्रशंसनीय है। इसी प्रकार काव्य परिभाषा में पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा– ''रमणीयार्थ पतिपादकः शब्दः काव्यम्''–

यह काव्य लक्षण वस्तुतः इस काव्य परिभाषा के ऐतिहासिक विकास की सूचना है। इसमें संदेह नहीं कि ''रसात्मकं वाक्यं काव्यम्'' में कवि की उस शब्दवीणा का संकेत किया जा रहा है जो कि ''रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम'' की परिभाषा के रूप में झलक उठता है अथवा शब्दवीणा की उस वादन शैली की सूचना दी जा रही है। जिसे ''तददोषौ शब्दार्थो सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'' के मंत्र की साधना के रूप में समझा जाय।

काव्य

साहित्य शास्त्र का दूसरा नाम काव्यशास्त्र है, कुन्तक ने साहित्य शब्द के यथार्थ का प्रतिपादन

* अतिथि विद्वान, शा.अभयानन्द संस्कृत महाविद्यालय, कल्याणपुर, शहडोल (म.प्र.)।

करते हुये जहाँ अपना मत प्रतिपादित किया है, कि शब्द और अर्थ के विशिष्ट संबंध को साहित्य कहते हैं। साहित्यशास्त्र में प्रयुक्त साहित्य शब्द, काव्य अर्थ में सीमित हुआ समझना चाहिए। काव्य और साहित्य समनार्थक है। काव्य का अर्थ है–''कवेः कर्मम्''–कवि का कर्म। साहित्य का अर्थ है–सहित्योः ''शब्दार्थयो' भावः साहित्यम्''–

अर्थात् एक साथ सम्मिलित शब्द और अर्थ का भाव साहित्य कहलाता है। काव्य में शब्द और अर्थ के परस्पर समन्वय का परिणत फल होता है। तथा साहित्य में शब्द और अर्थ परस्पर स्पर्धा कर रमणीय होते हैं। साहित्यशास्त्र पर लिखे हुये ''काव्यालंकार, काव्यालङ्लारसूत्र काव्यादर्श और काव्यप्रकाश आदि ग्रन्थों के नामों को देखकर भी यह स्पष्ट हो जाता है कि कालान्तर में साहित्यशास्त्र'' को ही काव्यशास्त्र के नाम से जाना जाता है– भोजदेव ने ''स्वरचित'' सरस्वतीकण्ठाभरण'' में सर्वप्रथम काव्यशास्त्र पद का प्रयोग किया है।

''काव्यं शास्त्रेतिहासौंच काव्य शास्त्रं तथैवंच। काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम्''।।[3]

इस प्रकार से भोज देव ने काव्य, काव्यशास्त्र और काव्येतिहास तीनों को विधि – प्रतिषेध का ज्ञान कराने वाला माना है। जैसे किसी सुन्दर दृश्य के देखने अथवा मधुर ध्वनि के सुनने से ओह अथवा अहो का विस्मयाभिव्यांजक शब्द निकल पड़ता है, वैसे ही ''रामायण'' और रघुवंश, महाभारत और ''किरातार्जुनीय' आदि सुन्दर और सुमधर कृतियों के अनुभव से ''वाक्यं रसात्मकं काव्यम् का अहोकार हो उठता है। इसमें सन्देह नहीं की जिसे वस्तुतः काव्य या कविता कहते है। उसकी आनन्दमयात्मक अनुभूति के देखते'' वाक्यं रसात्मकं काव्यम'' की परिभाषा उपनिषद वाक्य सी लगती है। इससे काव्य की रहस्यमयी भावनाये छिपी है। कवियों की कला के रहस्य का संकेत छिपा है। सहृदयों की सहृदयता की कसौटी छिपी है। जो बताना तो चाहती है कि काव्य क्या है? किंतु यह न बताकर कविता पर कविता करने लगती है। यदि हम कविराज विश्वनाथ के काव्य लक्षण को 'काव्य' विषय का ध्वनि कहे तो कोई अत्युक्ति नहीं है–''तद्दोषौ शब्दार्थौं सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'' कैसे ? विश्वनाथ ने यहाँ कहा है। ''वाक्यं रसात्मकं काव्यम्''– अर्थात् काव्य वह वाक्य है जो रसात्मक हो अथवा जिसका अन्तस्तत्व रस हो। किंतु ऐसा कहने से यह जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है कि वाक्य क्या वस्तु है जिसमें रसरूप आत्मा का अस्तित्व रहा करता है। कहना पड़ेगा कि वाक्य वह पदकदम्ब है जिसमें आकांक्षा, योग्यता और आशक्ति के तत्व विराजमान रहा करते हैं– वाक्य स्याद, योग्यताकांक्षासतियुक्तः पदोच्चयः''[4]। 'वाक्य' की इससे विशद परिभाषा क्या होगी? यह 'वाक्य' जब रसात्मक हो तो काव्य है इस प्रकार का वाक्य कैसे रसात्मक हो? यह एक समस्या है। वाक्य अपने आप रसात्मक नहीं हो सकता चाहे वह कैसे भी साकांक्ष योग्य और आसत्तिमय पदों का संदर्भ अथवा समूह क्यों न हो? वाक्य में 'रसरूप' आत्म तत्व का आधान भी कवि का ही काम है। कवि ही वाक्य बनाता है और वही उसमें रसरूप अनुभव–परमार्थ का आधान करता है जो कि अन्त में सहृदय के रसानुभव का स्त्रोत बन जाता है जब तक कवि वाक्य रचना न करे तब तक अपनी रस रूप आत्मा को कहा बैठावे। कहाँ ले जाय? इसलिये कवि को वाक्य तो बनाना ही पड़ेगा।

कहने का अभिप्राय यह है कि ''वाक्यं रसात्मकं काव्यम'' की काव्य परिभाषा अपनी उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का संकेत करती रहती है। जिसमें काव्य–अदोष, सगुण और उचित रूप से अलंकृत शब्दार्थ–संदर्भ के रूप में दिखायी देता है।

''रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्''[5]

यह काव्य लक्षण पं.राजजगन्नाथ ने रसगंगाधर नामक ग्रन्थ में की है। यह ध्वनि वस्तुतः इस काव्य परिभाषा के ऐतिहासिक विकास की सूचना है। बात यह है कि जब रसात्मक 'वाक्य' को काव्य कहा जाय तब वाक्य के रचनात्मक उपकरण तक पहुँचना आवश्यक हो जाता है। 'इस' से बढ़कर रमणीय अर्थ और क्या हो सकता है? यह रमणीय अर्थ जिसे रस कहते हैं काव्य की आत्मा है। इसलिये रसात्मक वाक्य को काव्य कहने से यही अभिप्राय निकलता है कि

''रमणीयार्थ प्रतिपादक''–

वाक्य काव्य है। वह वाक्य पद समूह है। किंतु समूह तो पद को ही समूह है इसलिये यदि रमणीय अर्थ के प्रतिपादक पद को काव्य कहा जाय तो आपत्ति क्या है। और यदि पद के बदले शब्द कहा जाय, जैसा कि पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा ही है विश्वनाथ के काव्य लक्षण के बारे में–

''वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'' रस एवं आत्मा साररुप तया जीवनधारा यद् वाक्यं। तेन बिना = रसेन बिना = तस्य = वाक्यस्य काव्यत्वाऽभावस्य प्रतिपादित्वात् अन्यथा ''देवदत्तो ग्रामं याति'' इत्यत्र तद्भृत्यानुसरणरूप व्यंग्यस्यापि काव्यत्वंस्यात''[6]।।

काव्य प्रयोजनम्

''विषयश्चाधिकारी च सम्बन्धश्च प्रयोजनमिति'' कथनेनानुबन्धचतुष्टये प्रयोजनस्य विशिष्टोमहिमस्ति'' प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्ततं'' इत्युक्तमपि''। जनः किमपि कर्तुं केनाऽपि विशेष प्रयोजनेनोद्देश्येन वा संलग्नो भविति । एतस्मात् काव्यस्य प्रयोजनं ''कृत्याकृत्य–प्रवत्तिनिवृत्युपदेश एवेति''। काव्य प्रयोजनस्य विषये पुरातन कालादारभ्याधुनिककालपर्यन्तमालङ्कारिकाः स्वमतं प्राकटयन''[7]।

मम्मट प्रतिपादित काव्य प्रयोजन–

''काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये सद्यः पर निवृत्तये कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे''।।[7]

आचार्य मम्मट ने काव्य के छह प्रयोजन दिखलाये हैं।

इसमें से ''कान्ता सम्मित'' तथा ''उपदेश युजे'' इसकी व्याख्या करते हुये उन्होने वेदादिशास्त्र तथा पुराण–इतिहासादि से काव्य का भेद और उसकी उपादेयता का प्रतिपादन बड़े अच्छे ढंग से किया है। काव्य के प्रयोजन में यश धन आदि अन्य प्रयोजनों के साथ कर्तव्याकर्तव्य का उपदेश करना भी एक मुख्य प्रयोजन है। वेद–शास्त्र इतिहास–पुराण आदि की रचना भी मनुष्यों को शुभ–कर्मों में प्रवृत्त करने तथा अशुभ कर्मों से निवृत्त करने के लिये ही की गई है। परंतु काव्य की उपदेश शैली उन सबसे विलक्षण है। इस विलक्षणता का उपपादन करने के लिये ग्रन्थकार ने शब्दप्रधान, अर्थप्रधान तथा रसप्रधान तीन तरह की उपदेश शैलियों की कल्पना की है। जिसको क्रमशः ''प्रभुसम्मित'', सुहृदसम्मित'', तथा ''कान्तासम्मित'' पदों से निर्दिष्ट किया है। वेद शास्त्र आदि की शैली ''प्रभुसम्मित'' या शब्दप्रधान शैली है। राजाज्ञाएँ तथा राजकीय विधान सदा शब्द प्रधान होते हैं। उनमें जो कुछ आज्ञा दी जाती है। उसका अक्षरशः पालन अनिवार्य होता है। इसी प्रकार वेद शास्त्र आदि में उपदेश दिये गये हैं। उनका अक्षरशः पालन करना भी अभीष्ट होता है। दूसरी उपदेश शैली इतिहास–पुराण आदि की है। इनमें वेद–शास्त्र आदि के समान शब्दों की प्रधानता नहीं होती है अपितु अर्थ पर विशेष बल दिया जाता है। इसलिये उनका अक्षरशः पालन आवश्यक नहीं होता है। अपितु उनके अभिप्राय का अनुसरण किया जाता है। इसको ग्रन्थकार ने ''सुहृदसम्मित'' शैली कहा है। मित्र अपने मित्र को उचित कार्य का अनुष्ठान करने तथा अनुचित कार्य

का परित्याग करने का उपदेश करता है। परंतु उसका उपदेश राजाज्ञा के समान शब्द प्रधान नहीं होता है। उसका तात्पर्य अर्थ में होता है। इसलिये अर्थ मैं तात्पर्य रखने वाली इस दूसरे प्रकार की उपदेश–शैली को ग्रन्थकार ने सुहृत्सम्मित शैली कहा है। इतिहास–पुराण आदि का अन्तर्भाव इस शैली के अन्तर्गत है। काव्य की उपदेश शैली इन दोनों से भिन्न प्रकार की होती है। इसमें न शब्द की प्रधानता होती है और न अर्थ की। वहाँ शब्द तथा अर्थ दोनों का गुणीभाव होकर केवल रस की प्रधानता होती है। इस शैली को आचार्य मम्मट ने ''कान्तासम्मित उपदेश शैली'' नाम दिया है। जब किसी काम में पुरुष को प्रवृत्त या किसी कार्य से उनको निवृत्त करती है। तब वह अपने सारे सामर्थ से उसको सरस बनाकर ही उस प्रकार की प्रेरणा करती है। इसलिये कान्तासम्मित–शैली में शब्द तथा अर्थ दोनों का गुणीभाव होकर इसकी प्रधानता हो जाती है। इसलिये इसको प्रधान शैली कहा जाता है। मम्मटाचार्य ने काव्य की उपदेश शैली को इस श्रेणी में रखा है। काव्य के पढ़ने से भी रामादि के समान आचरण करना चाहिए, रावणादि के समान आचरण नहीं करना चाहिए, इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त होती है। परंतु उसमें शब्द या अर्थ की नहीं अपितु रस की प्रधानता होती है। काव्य के रसास्वादन के साथ–साथ कर्तव्य अकर्तव्य का ज्ञान भी मनुष्य को होता जाता है। यह शैली वेदशास्त्र की शब्द प्रधान तथा इतिहास पुराण आदि की अर्थप्रधान दोनों शैलियों से भिन्न और सरसता के कारण अधिक उपादेय है। इसलिये काव्य के विषय में प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि चर्तुवर्ग की प्राप्ति काव्य से हो जाती है।

वामनाभिमत काव्य–प्रयोजन– आचार्य भम्मट ने अपने ग्रन्थ काव्यप्रकाश में छह काव्य प्रयोजनों की बात बड़े प्रमाणित तरीके से रखा है लगभग उसी प्रकार के काव्य प्रयोजनों का प्रतिपादन उनके पूर्व वर्ती आचार्यो ने भी किया है। इनमें वामनाचार्य के काव्य प्रयोजन सबसे अधिक संक्षिप्त है। उन्होने केवल दो प्रयोजन माने हैं। एक कीर्ति और दूसरा प्रीति या आनन्द

यथा– ''काव्यं सद्दृष्टार्थ प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्।।[8]

इनमें से प्रीति अर्थात् आनन्दानुभूति को काव्य का दृष्ट प्रयोजन तथा कीर्ति को काव्य का अदृष्टार्थ प्रयोजन माना है और इस पर बल दिया है।

प्रतिष्ठां काव्यबंधस्य यशसः सरणिं विदुः।
अकीर्तिवर्तिनीं त्वेवं कुकवित्वविडम्बनाम्।
कीर्तिं स्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः।
अकीर्तिन्तु निरालोकनरकोद्देशदूतिकाम्।
तस्मात् कीर्तिमुपादार्तुमकीर्तिच्च व्यपोहितुम्।
काव्या लङक्रार सूत्रार्थः प्रसाद्यः कविपुङग्वैः[9]।।

भामह प्रतिपादित काव्यप्रयोजन– वामन के भी पूर्ववर्ती आचार्य भामह ने इनकी अपेक्षा अधिक विस्तार के साथ काव्य प्रयोजनों का वर्णन निम्न प्रकार से किया है–''धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं लासु च।

क्रोति कीर्तिप्रीतिं च साधुकाव्य निबन्धनम्[10]।।

उत्तम काव्य का प्रयोजन धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष रुप चारों पुरुषार्थों तथा समस्त कलाओं में निपुणता और कीर्ति एवं प्रीति अर्थात् आनन्द को उत्पन्न करने वाली होती है। भामह के इस श्लोक को उत्तरवर्ती सभी आचार्यों ने आदरपूर्वक अपनाया है। इसके अनुसार कीर्ति तथा प्रीति के अतिरिक्त पुरुषार्थ–चतुष्टय कला तथा व्यवहार आदि में निपुणता की प्राप्ति भी काव्य का प्रयोजन है। कीर्ति को काव्य का मुख्य प्रयोजन बतलाते हुये कुछ श्लोकों में काव्य प्रयोजन का अभिप्राय बताया है–

''उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविद्यायिनाम्।
आस्त एवं निरातङ्क् कान्तं काव्यमयं वयुः।
रुणद्धि रोदसी चास्य यावत् कीर्तिरनश्वरी।

तवत् किलायमध्यास्तेसुकृती वैबुधं पदम्।।
अतोऽभिवाञ्छता कीर्ति स्थेयसीमा भुवःस्थितेः।
यत्नो विदित वद्येन विधेयः काव्य लक्षणः।।
सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्यणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते।।
नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः[11]।।

भामह द्वारा प्रतिपादित काव्य प्रयोजन बताते है कि उत्तम काव्यों की रचना करने वाले महाकवियों के दिवङ्गत हो जाने के बाद भी उनका सुन्दर काव्य रूपी शरीर ''यावच्चन्द्र दिवाकरौ'' तक अक्षुण्य बना रहता है और जब तक उनकी अनश्वर कीर्ति इस भू–मण्डल तथा आकाश में व्याप्त रहती है। तब तक वे सौभाग्यशाली पुण्यात्मा देवपद का भोग करते रहते हैं।

कुन्तक–प्रतिपादित काव्यप्रयोजन–

कुन्तक ने अपने वक्रोक्तिजीवितम् में और भी अधिक स्पष्ट किया। उन्होने काव्य के प्रयोजनों का निरूपण करते हुए लिखा है–

धर्मादिसाधनोपायः सुकमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः।।
व्यवहारपरिस्पन्द सौंदर्य व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते।।
चतुर्वर्गफलः स्वादव्यतिक्रम्य तद्विदाम।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्रकारो वितन्यते''[12]।।

काव्य की रचना अभिजात = श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न = राजकुमार आदि के लिये सुन्दर एवं सरस ढंग से कहा गया धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धी का सरल मार्ग है और सत्काव्य के परिज्ञान से ही व्यवहार करने वाले सब प्रकार के लोगों को अपने–अपने व्यवहार का पूर्ण एवं सुन्दर ज्ञान प्राप्त होता है। सबसे उत्तम यह है कि काव्याध्ययन से सहृदयों के हृदय में चर्तुरवर्ग फल की प्राप्ति से भी बढ़कर आनंदानुभूति चमत्कार उत्पन्न होता है। इस प्रकार से आचार्य कुन्तक ने काव्य प्रयोजन स्वाचरित वक्रोक्तिजीवितम ने कहा है।

भरतमुनि प्रतिपादित काव्य प्रयोजन– काव्य शास्त्र के आद्याचार्य भरतमुनि ने काव्य प्रयोजन पर प्रकाश डालते हुये नाट्यशास्त्र में काव्यप्रयोजन का वर्णन इस प्रकार से किया है–

उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्।
हितोपदेशजननं धृति–क्रीड़ा–सुखादिकृत्।।
दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति।।
धर्म्य यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविनर्द्धनम्।
लेकोपदेशजननं नाट्यमेतद भविष्यति[13]।।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने भरतमुनि विचरित नाट्य प्रयोजन को आधार मानकर अपने–अपने काव्यों के प्रयोजन का निरूपण किया है। इस प्रकार से अधिकांश आचार्यों ने कीर्ति और यश को काव्य का मुख्य प्रयोजन माना है।

विश्वनाथ प्रतिपादित काव्यप्रयोजनः–

काव्य के प्रयोजनों का निरूपण तो अलंकारिक आचार्य परम्परा से करते आ रहे हैं। किंतु काव्य समीक्षा के प्रयोजनों का विचार संभवतः सर्वप्रथम विश्वनाथ कविराज ने किया है–

''चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते।।[14]

काव्य एक ऐसी वस्तु है जिससे अल्पबुद्धि मानव को बिना किसी कष्ट साधना के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति हुआ करती है। इसलिये काव्य और काव्य समीक्षा के विभिन्न कृतियों में कवि और समीक्षा की एकता और एकरसता का अनुसंधान कर विश्वनाथ कविराज में जो प्रयोजनैक्य सिद्ध किया है। वह एक मौलिक कृत्य है और काव्य किं वा अलंकार शास्त्र की

अपृथक सिद्धता को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है साहित्यदर्पणकार ने मम्मटोक्त प्रयोजन षट्क की समीक्षा में काव्य और काव्यालोचन के पुरुषार्थ प्राप्ति रूप समान प्रयोजन का निष्कर्ष निकाला है। वैसे तो मम्मट निर्दिष्ट ''षट् प्रयोजन'' में ही पुरुषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति का रहस्य समाया हुआ है और इस दृष्टि से मम्मट प्रतिपादित प्रयोजन षट्क का खण्डन नहीं हो सकता। किंतु इतना अवश्य है जो बात मम्मट के मत में गूढ़ रूप से है वह विश्वनाथ कविराज के समीक्षण में स्पष्ट हो गई है। कि शास्त्र और काव्य के अधिकारियों के वैयक्तिक भेद–भाव को भी प्रमाणित करती प्रतीत हुई, चाहे जो भी हो। विश्वनाथ कविराज ने ''शास्त्र'' और ''काव्य'' के अधिकारियों के व्यक्तित्व का जो भेद प्रतिपादन किया है वह कोई कपोल कल्पना नहीं किंतु एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। आधुनिक मनोविज्ञानशास्त्रियों ने भी कवि किं वा सहृदय Introvert (अन्तर्मुखी वृत्ति वालों) और विज्ञान प्रेमी को Extrovert (बहिर्मुखी वृत्ति वाले) सिद्ध किया है। कविराज विश्वनाथ की धारणा में ''सुकुमारबुद्धि'' और ''परिणतबुद्धि'' का जो अभिप्राय है उसमें आधुनिक मनोविज्ञान शास्त्र के उपर्युक्त विश्लेषण का भी रहस्य बहुत कुछ अन्तर्निहित है इस प्रकार से काव्यशास्त्रों में वर्णित काव्यप्रयोजन कारक एवं स्वरूप स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है जिसे अधिक विस्तार से अध्ययन करना हो वे ''साहित्यदर्पणस्या–लङ्कारशास्त्रीयमनुशीलनम्'' नामक शोध प्रबंध (2006) का अध्ययन करके इसके बारे में विस्तार से ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

संदर्भ ग्रंथ

1. साहित्यदर्पण प्रथम परिच्छेद पृष्ठ–3
2. काव्यप्रकाश 1–4
3. सरस्वतीकण्ठाभरणम् 2–139
4. साहित्यदर्पण – 2–1
5. डॉ0 वृजेन्द्र कुमार पाण्डेय (2006) ''साहित्य–दर्पणस्यालङकारशास्त्रीयमनुशीलनम्'' शोध प्रबंध पृष्ठ–71
6. डॉ0 वृजेन्द्र कुमार पाण्डेय (2006) ''साहित्य–दर्पणस्यालङकारशास्त्रीयमनुशीलनम्'' शोध प्रबंध पृष्ठ–52
7. काव्यप्रकाश – 1–2
8. काव्यालङ्कारसूत्र 1–1
9. काव्यालङ्कारसूत्र 1–5
10. भामाह काव्यालङ्कार 1–2
11. भामाह काव्यालङ्कार 1–6–12
12. वक्रोक्तिजीवितम प्रथम उन्मेष 3–5 कारिका
13. भरतमुनि नाट्यशास्त्र– अध्यायप्रथम–श्लोक 13–15
14. साहित्यदर्पण प्रथम परिच्छेद पृष्ठ–2

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUNE, 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

''मध्यप्रदेश के रीवा संभाग की अनुसूचित जनजाति जनसंख्या का भौगोलिक विश्लेषण

❐ डा. अश्विनी कुमार पाण्डेय

शोध सारांश

भूगोल के अध्ययन में जनजाति का विशिष्टतम स्थान है वह भौगोलिक तत्व, संसाधन एवं कारक तीनों हैं। वस्तुतः मानव भौगोलिक वातावरण का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है यह केवल पृथ्वी के धरातल पर निवास करने वाली जनजाति भौगोलिककर्ता के रूप में निर्माता तथा पृथ्वी के धरातल पर परिवर्तन करने वाले सक्रिय प्राणी के रूप में हैं जो कि पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले समस्त संसाधनों का उपयोग अपनी आवश्यकताओं के अनुसार करता आया है।

हमारे देश की जनसंख्या बड़ी ही द्रुत गति से बढ़ रही है। देश की जो जनसंख्या 1901 में लगभग 23 करोड़ 6 लाख थी वहीं अब 1 अरब से अधिक हो गई है। सत्य तो यह है कि भारत की आबादी में प्रतिवर्ष आस्ट्रेलिया की जनसंख्या के बराबर वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार की द्रुत जनांककीय प्रगति से हमारे कृषि साधनों तथा आर्थिक संसाधनों पर विशेष दबाव पड़ रहा है। यदि हमें भविष्य में इस बढ़ती हुई जनसंख्या को खाद्य का आधार तथा हाथों को काम देना है तो हमें जनांककीय वृद्धि को रोकना होगा।

मध्यप्रदेश का रीवा संभाग का जहाँ 50 प्रतिशत भू–भाग अनुसूचित जनजाति बाहुल्य है, वहीं दूसरी ओर शेष भाग में अनुसूचित जनजाति की जनांककीय विशेषतायें समस्या ग्रस्त हैं। क्षेत्र में सामान्य वर्ग की अपेक्षा अनुसूचित जनजाति सम्वर्ग में जनसंख्या की निर्वाद वृद्धि से जनसंख्या के संगठन में भी उल्लेखनीय परिवर्तन हो रहे है। ये परिवर्तन जनसंख्या की आर्थिक, सामाजिक आवश्यकताओं, अपेक्षाओं और आकाक्षाओं के रूप में देखे जा सकते हैं।

दुर्भाग्यवश सुदूर एकान्त स्थलों में निवास करने वाली अनेक जनजातियों की प्रमाणिक सूचनायें अद्यावधि नहीं है। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुये प्रस्तावित शोध पत्र में म.प्र. के रीवा संभाग में अत्यन्त पिछड़े एकांकी प्रदेश की जनजातियों की जनांककीय विशेषताओं का अध्ययन करने की कार्य योजनाओं की दिशा पर ध्यान रखा गया है।

मध्यप्रदेश के रीवा संभाग में जहाँ एक ओर शहडोल तथा सीधी जिले अनुसूचित जनजाति

* अतिथि विद्वान् (भूगोल), शास. स्वामी विवेकानन्द महाविद्यालय, त्योंथर, जिला- रीवा (म.प्र.)

बाहुल्य के अन्तर्गत आते हैं, वहीं दूसरी ओर रीवा एवं सतना जिले सामान्य सम्वर्ग बाहुल्य के अन्तर्गत आते हैं।

प्रस्तुत शोधपत्र में शोध कार्य योजना में रीवा संभाग की अनुसूचित जनजातियों की संगठनात्मक विशेषताओं का जहां एक ओर भौगोलिक विश्लेषण करना है, वहीं दूसरी ओर अनुसूचित जनजाति बाहुल्य क्षेत्र तथा सामान्य जनसंख्या बाहुल्य क्षेत्रों में निवास करने वाली अनुसूचित जनजातियों के मध्य तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने की भी कार्य योजना है।

जनसंख्या और संसाधन सम्बन्ध पर विचार का इतिहास प्लेटो से प्रारम्भ हुआ। पर इस पर व्यवस्थित विचार प्रस्तुत करने का प्रथम श्रेय राबर्ट माल्थस को है। उसने अपने प्रथम निबन्ध में जनसंख्या सम्बन्धी बहुत से विचार प्रस्तुत किये, जिन्हें बाद में माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त कहा गया। तब से बहुत विद्वानों ने जनसंख्या वृद्धि को नियंत्रित करने वाले नियमों को खोजने का प्रयास किया। बहुधा जनसंख्या के सिद्धान्त को दो वर्गों में विभक्त किया जाता है – प्राकृतिक आधार पर आधारित सिद्धान्त तथा समाजिक आधार पर आधारित सिद्धान्त। प्राकृतिक आधार पर आधारित जनसंख्या सिद्धान्त प्रतिपादन करने वाला सर्वप्रथम विद्वान् माल्थस था। उन्नीसवीं सदी में प्राकृतिक नियमों पर आधारित जनसंख्या सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले अन्य थामस, लैंडलर, थमस डब्बलडे और हर्बर्ट स्पेन्सर थे। सामाजिक नियमों पर आधारित जनसंख्या के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वालों में हेनरी जार्ज, अर्सेन ड्यूमॉट, डेविड रिकार्डो और कार्ल मार्क्स थे।

माल्थस (1766–1834) एक ब्रिटिश इतिहासकार और अर्थशास्त्री था, जिसने सर्वप्रथम जनसंख्या वृद्धि एवं परिवर्तन तथा सामाजिक–आर्थिक परिवर्तन के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण किया। उनका उद्देश्य मानवतावादी था, और वह सदा मानव कल्याण के विषय में सोचता था। जनसंख्या वृद्धि का मानव कल्याण पर क्या प्रभाव होता है? इस प्रश्न की व्याख्या करते हुए उन्होंने जनसंख्या सिद्धांत का प्रतिपादन किया। जनसंख्या समस्या के प्रति उनका दृष्टिकोण अनुभववादी था। क्योंकि उन्होंने अपने जनसंख्या के सिद्धान्त का प्रतिपादन यूरोप के अनुभव पर किया। अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में उन्होंने दो मान्यताएँ रखीं। प्रथम, मानव जीवन के लिए खाद्य पदार्थ आवश्यक है। दूसरा, दो विभिन्न लिंगों में कामभाव स्वाभाविक है जो हमेशा इसी तरह बना रहेगा। इन दो मान्यताओं के आधार पर उन्होंने कहा कि जनसंख्या वृद्धि की क्षमता भूमि के जीवन निर्वाह प्रदान करने की क्षमता से अधिक होती है।

रीवा एवं सतना जिले में निवास करने वाली अनुसूचित जनजातियों के जनांककीय संगठन पर आधुनिकता का प्रभाव देखा जा सकता है। वहीं दूसरी ओर शहडोल एवं सीधी जिले के सुदूर अंचलों पर निवास करने वाली अनुसूचित जनजातियों पर आधुनिकता का प्रभाव कम दृष्टिगोचर होता है।

भूगोल के अध्ययन में मानव का विशिष्टतम स्थान है वह भौगोलिक तत्व एवं संसाधन दोनों है। वस्तुतः मानव भौगोलिक वातावरण सबसे महत्वपूर्ण है यह केवल पृथ्वी के धरातल पर निवास ही नहीं करता बल्कि भौगोलिक कर्ता के रूप में निर्माता तथा पृथ्वी के धरातल पर परिवर्तन करने वाला सक्रिय प्राणी भी है यह संसाधनों का उपयोग अपनी आवश्यकताओं के अनुसार करता आया है।

इसी क्षेत्र में जननांकिकीय गत्यात्मकता उसके जनसंख्या भूगोल का एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य होता है। उस क्षेत्र के विभिन्न भागों में जनसंख्या का परिवर्तन उसके वितरण के प्रारूप को प्रभावित

करता है। जनसंख्या परिवर्तन के घटक किसी स्थान की जनांककीय विशेषताओं के निर्धारण में एक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में कार्य करते हैं। जनसंख्या वृद्धि का क्षेत्रीय प्रतिरूप उस क्षेत्र के आर्थिक वैभव तथा विभिन्न भागों की परिवर्तनशील प्रकृति को प्रतिबिम्बित करती है। इसलिए यह आवश्यक है कि अनुसूचित जाति जनसंख्या वृद्धि का विश्लेषण कर विभिन्न जननांकीय गुणों के अध्ययन का ढाँचा भी प्रस्तुत किया जाये।

भारत वर्ष के कई क्षेत्रों में प्रारम्भिक जनगणना 1871 में प्रारम्भ की गई थी, परन्तु रीवा संभाग में जनसंख्या सम्बन्धी प्रामाणिक आंकड़े सन् 1871 से 1891 तक के उपलब्ध न होने के कारण जनजातीय जनसंख्या वृद्धि सम्बन्धी अध्ययन 1901 से संभव हो सका है। रीवा संभाग में 1901 से 2001 तक 231.49 प्रतिशत जनसंख्या की वृद्धि हुई है। जनजातीय जनसंख्या वृद्धि की समान्य प्रवृत्तियों को तालिका से स्पष्ट किया गया है–

तालिका क्र. 1

रीवा संभाग में जनजातीय जनसंख्या वृद्धि (1901 से 2001 तक)

क्र.	दशाब्दी	कुल जनसंख्या	जनजातीय जनसंख्या	जन पि
1.	1901	1601780	361782	
2.	1911	1815389	470509	+1
3.	1921	1651881	385240	–
4.	1931	1553930	492672	+1
5.	1941	2137724	623464	+1
6.	1951	2303412	731505	+1
7.	1961	2876150	855615	+1
8.	1971	3698030	999777	+1
9.	1981	4696562	1251160	+2
10.	1991	6136175	1621285	+3
11.	2001	7760133	1997441	+3

स्रोत–संभागीय कार्यालय रीवा एवं भारत के सूचकांक सीरीज 198–91, टू पार्ट बी. म.प्र. जनरल पापुलेशन टेबिल पृ.सं. 522–46 तक।

उक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि रीवा संभाग में 1901 से 2001 तक जनजातीय जनसंख्या में निरंतर वृद्धि हुई है केवल 1921 की अवधि में संभाग में 18.02 प्रतिशत जनजातीय जनसंख्या का ह्रास हुआ है। जो कि उक्त तालिका से स्पष्ट है कि संभाग में जनजातीय जनसंख्या वृद्धि की गति समान नहीं रही। वर्ष 1911–21 की अवधि में जनसंख्या विभाजक के रूप में है। तथा सन् 1911 से 1921 के बीच वर्ष 1918 में जनसंख्या में ह्रास भी आया है। इसका मुख्य कारण भंयकर रूप से फैलने वाला अकाल एवं इन्फ्लूएन्जा कहा जाता है। इसी बीमारी के कारण सन् 1919 ई0 में यहाँ के तत्कालीन शासक महाराजा वेंकटरमण सिंह की भी मृत्यु हो गई थी। जनसंख्या वृद्धि की प्रकृति कभी भी एक सी नहीं रही है। अतः इन समस्त कारणों का विश्लेषण निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

वर्ष 1901 से 1911 के दशक में अध्ययन क्षेत्र की कुल जनजातीय जनसंख्या में 108727 व्यक्तियों की वृद्धि हुई अर्थात् इस दशाब्दी में जनजातीय जनसंख्या वृद्धि दर 30.05 प्रतिशत थी। जो सम्पूर्ण मध्य प्रदेश के औसत वृद्धि दर से भी अधिक थी। इस प्रकार जनसंख्या की यह वृद्धि दर संभाग के सभी जिलों में समान गति से नहीं बढ़ी।

वर्ष 1911 से 1921 के दशक में जनसंख्या का ह्रास हुआ जिसमें जनसंख्या बढ़ने के बजाय घट गई वर्ष 1911 में संभाग की कुल जनजातीय जनसंख्या 470509 थी। जो वर्ष 1921 में घट कर 385240 हो गई। इस प्रकार इस दशक में 18.02 प्रतिशत जनसंख्या का ह्रास हुआ। इसका मुख्य कारण भयंकर रूप से फैलने वाला संक्रामक रोग था। 1911 से 1921 के दशक में केवल स्थानीय ह्रास नहीं हुआ वरन् यह सर्वत्र मध्यप्रदेश एवं भारत में था परन्तु यह ह्रास संभाग के अन्य जिलों में भी समान गति से नहीं हुआ सबसे अधिक ह्रास की दर 21.30 प्रतिशत सतना जिले में थी तथा सबसे कम शहडोल जिले में 15.43 प्रतिशत थी।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अनुसूचित जनजातियों की जनांककीय वृद्धि वर्ष 1901 से 2001 तक क्रमशः हुई है। जिसके कारण अनेकों प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं। उनके सम्पूर्ण रहन–सहन एवं खाद्य आपूर्ति की समस्या एवं वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों में मुख्य रूप से वनोपजों पर ही उनको निर्भर रहना पड़ता है। देश के विभिन्न अंचलों में रहने वाली अनुसूचित जनजातियों की जनांककीय विशेषताओं से सम्बन्धित सूचनाओं के प्रति हमारी सरकार विशेष रूप से सजग है तथा जनजातियों के उन्नयन के लिए शासन द्वारा अनेकों रोजगारोन्मुखी योजनाएँ संचालित हैं जिससे उनके जीवन–यापन का निर्वहन हो सके।

संदर्भ स्रोत

1. आर.सी. चान्दना, जनसंख्या भूगोल, कल्याणी पब्लिशर्स, राजेन्द्र नगर, लुधियाना–141008
2. संभागीय कार्यालय रीवा एवं भारत के सूचकांक सीरीज 198–91, टू पार्ट बी. म.प्र. जनरल पापुलेशन टेबिल पृ.सं. 522–46 तक
3. नेशनल पापुलेशन पालिसी 2000, प्लानिंग कमीशन ऑफ इण्डिया नई दिल्ली।
4. भारतीय जनगणना (2001) प्रथमिक जनगणना सार कुल जनंसख्या।
5. क्लार्क, जॉन प्रथम (1972) पापुलेशन जाग्रफी परगामोन प्रेस आक्सफोर्ड।

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUNE, 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

''मध्यकालीन भारतीय सामाजिक समरसता में रामानंद की भूमिका''

❒ डा. निशा तिवारी

शोध सारांश

सामाजिक समरसता का अर्थ है, ऐसी सामाजिक व्यवस्था जिसमें धर्म, जाति, लिंग, आर्थिक आय के आधार पर कोई भेदभाव न हो समाज में सभी मनुष्य जाति को समान अवसर प्राप्त हो। सामाजिक समरसता भारतीय समाज की एक ऐसी आधारशिला है जिसके सहयोग से भारतीय समाज को एक सूत्र में पिरोया जा सकता है एवं भारतीय समाज की एकता एवं अखण्डता को सुदृढ़ बनाया जा सकता है।

भारतीय समाज प्रारम्भ से ही विभिन्नता का स्वरूप धारण किये हुये थे। जिस पर समरसता की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। यदि प्रारम्भिक अवस्था पर दृष्टि डाली जाये तो ऋग्वैदिक काल भारतीय समाज वर्ण व्यवस्था में विभक्त था। जहाँ पर वर्ण का आशय रंग अथवा व्यवसाय का प्रतीक था। वर्ण व्यवस्था अत्यंत लचीली थी। कोई भी व्यक्ति अपनी रूचि एवं सुविधानुसार किसी भी वर्ण का सदस्य बन सकता था। तत्कालीन समय में सम्बन्धित वर्ण में जन्म लेना आवश्यक नहीं था। वैदिक काल में समरसता का सबसे श्रेष्ठ उदाहरण 'भगवद् गीता' में मिलता है। जिसमें भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में उपदेश देते हुए कहा (जन्माजायते शुद्राः कर्मणा द्विज उच्चते) अर्थात् जन्म से प्रत्येक व्यक्ति शूद्र उत्पन्न होता है और अपने कर्मों से वह द्विज या श्रेष्ठ कहलाता है। किन्तु धीरे–धीरे समय के साथ–साथ समाज के रूप में भी परिवर्तन अवश्यम्भावी था। उत्तर वैदिक काल तक आते–आते समाज में वर्ण का स्थान जाति ने ले लिया जो स्वभावतः कठोर प्रकृति की थी। व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता, आजीवन उसी जाति का सदस्य वह रहता था। वर्ण के समान जाति व्यवस्था में परिवर्तन का विधान नहीं था। एक जातियों के दूसरे जातियों से अन्तर्जातीय वैवाहिक सम्बन्धों के कारण आज भारतीय समाज असंख्य जातियों में विभक्त है। समाज के इसी परिवर्तनात्मक धारा से प्रभावित होकर विदेशी आक्रांताओं के भारत आगमन पर भारतीय समाज में समय–समय पर विभिन्न वर्गों का भी उदय हुआ है। कभी जाति परिवर्तन के कारण, कभी धर्म परिवर्तन के कारण, कभी वर्ग परिवर्तन के कारण। भारत पर अरबों के आक्रमण से भारतीय समाज में इस्लामिक संस्कृति का प्रवेश

* एम.ए., पी-एच.डी. (इतिहास), नेहरू नगर, रीवा (म.प्र.)

हुआ। जिसके कारण भारतीय समाज में और भी कई वर्गों का उदय हुआ और भारतीय समाज कई वर्गो में विभक्त हो गया।

भारतीय समाज में कई वर्गों के उदय के कारण भारतीय सामाजिक एकता को काफी नुकसान पहुँचा और समाज में अनेक कुरीतियों का जन्म हुआ। भारतीय समाज में इन कुरीतियों को समाप्त करने के उद्देश्य से मध्यकालीन भारतीय समाज में भक्ति आंदोलन का उदय हुआ। जिसमें भारतीय सामाजिक समरसता को बढ़ाने के लिए रामानंद ने अपना महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया।

युगद्रष्टा रामानन्द

भारतीय इतिहास में तेरहवीं सदी हिन्दू सभ्यता का अंधकार युग माना जाता है। मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद खिलजी शासन काल में मलिक काफूर के नेतृत्व में दक्षिण भारत में मुस्लिम साम्राज्य का विस्तार, देवगिरि के यादव राज्य, मैसूर के होयसल राज्य का पतन, मालाबार तथा कोरमंडल की लूट, मंदिरों का विध्वंश, स्वर्ण–जवाहरातों को लूट की घटनाएँ। 1326 में आदम पुल का मस्जिद का निर्माण हुआ, जहाँ सैकड़ों वैष्णव भक्त रहते थे और जिसे रामानुज ने शिक्षा और दीक्षा का केन्द्र बनाया था। वह मुस्लिम सेना के विनाशकारी प्रभाव से न बच सका। मुसलमानों के अत्याचारों से बचने के लिए दक्षिण के दार्शनिकों, लोकाचार्यों को बाध्य होकर अन्यत्र शरण लेनी पड़ी। इन परिस्थितियों में इस्लाम के प्रसार तथा मुस्लिम साम्राज्य विस्तार के विरुद्ध विजयनगर राज्य (1336) का उदय एक प्रतिक्रिया थी। दक्षिण भारत में धर्म तथा समाज सुधार आंदोलन मुसलमानों के अत्याचार के विरुद्ध एक न्यायोचित उत्तर था।

हिन्दू सभ्यता के अंधकार युग में महान् धर्म तथा समाज सुधारक रामानंद का जन्म 1299 ई. में प्रयाग के कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनकी शिक्षा प्रयाग तथा वाराणसी में हुई। इनके प्रारम्भिक गुरु एकेश्वरवादी वेदांत दार्शनिक थे। आगे चलकर राघवानंद को इन्होंने अपना गुरु बनाया। राघवानंद श्री सम्प्रदाय के महान् संत थे। किसी अनुशासन संबंधी विषय पर गुरु से मतभेद होने के कारण रामानंद ने मठ त्याग दिया और उत्तर भारत की ओर चले आए। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में ''सच पूछा जाय तो मध्ययुग की समग्र स्वाधीन चिंता के गुरु रामानंद ही थे''। इन्होंने अपने जीवन का अधिकांश समय तीर्थयात्रा तथा भ्रमण में व्यतीत किया। युगांतकारी रामानंद ने अपने नश्वर शरीर का त्याग 1456 ई. के लगभग किया।

मैकालिफ के अनुसार वाराणसी तथा प्रयाग में रामानंद मुसलमान संतों के सम्पर्क में आए और उनसे प्रभावित हुए। युसुफ हुसेन ने लिखा है कि भ्रमण यात्रा के समय निश्चित रूप से वे मुसलमानों के सम्पर्क में आये। उन्होंने इस्लामी विचारों का ज्ञान प्राप्त किया। सम्भव है कि सिद्धांतों का ज्ञान न प्राप्त किया हो, परन्तु प्रभाव स्पष्ट है। उनके विचारों के सूक्ष्म अध्ययन के पश्चात् यह स्वीकार करना कठिन प्रतीत होता है कि वे इस्लाम से प्रभावित थे। उनके उदारवादी दृष्टिकोण पर निस्संदेह दक्षिण के संतों का प्रभाव पड़ा। दक्षिण भारत में जैन सम्राट् के प्रधानमंत्री वासव ने वीर–शैववाद का प्रतिपादन किया। इसमें जाति–प्रथा का खंडन करके सभी जातियों तथा स्त्रियों को समाज में समान अधिकार दिया। बासव का सिद्धांत शैववाद तथा इस्लाम के विरुद्ध प्रतिक्रिया था। जाति–विहीन समाज सुधार आन्दोलन रामानन्द के नेतृत्व में क्रांतिकारी युग में प्रविष्ट हुआ। तमिल देश के तिरुमूलर एक जाति तथा एकेश्वर का नारा लगा रहे थे। नम्मलवर के अनुसार जन्म–जाति

से कोई ऊँच–नीच नहीं है; भक्ति तथा ब्रह्म ज्ञान से मनुष्य समाज में ऊँच तथा नीच स्थान प्राप्त करता है। दक्षिण भारत में शैव संत पट्टकिरियार ने समाज में भ्रातृत्ववाद की आवाज उठाई। अतः रामानन्द का उदारवादी दृष्टिकोण इस्लामी प्रभाव का परिणाम नहीं, बल्कि दक्षिण के समाज सुधारक सन्तों के प्रभाव का परिणाम था।

धर्म तथा समाज सुधार

रामानन्द ने शंकराचार्य के मायावाद तथा ज्ञानवाद को अस्वीकार करके रामानुज की भाँति भक्ति को मोक्ष का एकमात्र साधन स्वीकार किया। वे विष्णु की उपासना के स्थान पर एक ऐसे आराध्य देव को चाहते थे जो हिन्दू समाज के सभी जातियों को सन्तुष्ट कर सके। इसीलिए उन्होंने विष्णु की उपासना को न अपनाकर मर्यादा पुरुषोत्तम राम तथा सीता की आराधना समाज के समक्ष रखी। उनका मूल उद्देश्य धर्म तथा भक्ति के माध्यम से समाज सुधार करना था। उनके आराध्य देव राम भारतीय समाज के सभी जातियों के प्रिय थे। जाति–भेद की भावना का परित्याग करके 'मानहु एक भगत कै नाता' का दृष्टिकोण अपनाया। क्योंकि मर्यादा पुरुषोत्तम राम उन्मुक्त कण्ठ तथा समान प्रेमभाव से वशिष्ठ, विश्वामित्र, भारद्वाज, निषाद और शबरी से ही नहीं बल्कि बन्दरों के स्वामी सुग्रीव, रीछपति जामवंत एवं राक्षस विभीषण से मिले। सर्वगुण सम्पन्न, सभी जातियों के प्रिय राम की उपासना तथा उनके आदर्शों को समाज के समक्ष रख कर सुधार करना सम्भव था।

रामानन्द धर्म के बाह्य–आडम्बर तथा संस्कार के विरोधी थे। एक बार उन्हें मंदिर में विष्णु की आराधना के लिए बुलाया गया तो उन्होंने कहा था कि मैं घर में सन्तुष्ट हूँ। मेरी कुंठित आत्मा मेरे साथ नहीं जायेगी। जब मैं अर्चना के लिए मन्दिर में जाने लगा तो मेरे आध्यात्मिक गुरु ने हृदय में ही ईश्वर को दिखाया। मैंने वेद, पुराण का अध्ययन कर के ईश्वर को सर्वव्यापी पाया। रामानन्द का अटूट विश्वास भक्ति तथा ईश्वर के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध में था। उन्होंने ईश्वर के औपचारिक विश्वास में नहीं बल्कि भक्ति के माध्यम से ईश्वर की अनुभूति पर जोर दिया।

समाज सुधार के क्षेत्र में रामानन्द क्रांतिकारी तथा रूढ़िवादी विचारों के समन्वयवादी थे। 1875 में लिखी गई रामानुज हरिवर दास की हरि भक्ति प्रकाशिका के अनुसार ''रामानन्द ने देखा कि भगवान् के शरणागत होकर जो भक्ति के पथ में आ गया उसके लिए वर्णाश्रम का बन्धन व्यर्थ है, इसीलिए भगवद्भक्त को खान पान के झंझट में नहीं पड़ना चाहिए। यदि ऋषियों के नाम पर गोत्र और परिवार बन सकते हैं तो ऋषियों के भी पूजित परमेश्वर के नाम पर सबका परिचय क्यों नहीं दिया जा सकता? इस प्रकार सभी भाई–भाई हैं, सभी एक जाति के हैं। श्रेष्ठता भक्ति से होती है, जन्म से नहीं।'' रामानन्द संस्कृत के पण्डित, उच्च ब्राह्मणकुलोत्पन्न और एक प्रभावशाली सम्प्रदाय के भावी गुरु थे। परन्तु उन्होंने सबका परित्याग कर दिया। ब्राह्मण से चांडाल तक सभी को राम नाम का उपदेश दिया। वे अपने शिष्यों का अवधूत कहते थे।

रामानंद के शिष्यों में रैदास (चमार), कबीर (जुलाहा), धन्ना (जाट किसान), सेना (नाई), पीपा (राजपूत), भवानन्द, सुखनंद, आशनन्द, सुरसुरानन्द, परमानन्द, महानन्द तथा श्री आनन्द थे। सभी जातियों के लोगों को अपना शिष्य बनाकर उन्होंने भ्रातृत्ववाद का प्रतिपादन किया। कबीर को अपना शिष्य बना दकर हिन्दू मुस्लिम समन्वयवाद का

मार्ग प्रशस्त किया। रामानन्द ने जातिप्रथा की आलोचना कर उसे अनावश्यक बताया। पददलित शूद्रों में एक नवीन चेतना जागृत की आलोचना कर उसे अनावश्यक बताया। पददलित शूद्रों में एक नवीन चेतना जागृत की। भविष्य पुराण के अनुसार अनेक धर्म परिवर्तित हिंन्दुओं को उन्होंने पुनः हिन्दु समाज में स्वीकार किया। उन्हें संयोगी कहा जाता था।

भविष्य पुराण में पुनः लिखा है कि रामानन्द के प्रभाव के कारण बहुत से मुसलमान वैष्णव होकर गले में तुलसी की माला, जिह्वा पर राम नाम तथा मस्तक पर वैष्णव चिन्ह लगाते थें। अयोध्या के पास इन संयोगियों की बस्ती है। एकेश्वरवाद के रंगमंच पर हिन्दू मुसलमानों को एक साथ लाकर उन्होंने समन्वयवाद का मार्ग प्रशस्त किया।

कुछ लेखकों का मत है कि रामानन्द पूर्णरूप से जाति व्यवस्था समाप्त करने के पक्ष में नहीं थे। इसकी कठोरता के स्थान पर लोचकता लाना चाहते थे। खान–पान में उन्होनें भक्ति के स्तर पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों तथा मुसलमानों को समान अधिकार देकर समाज सुधार आंदोलन को एक नवीन दिशा दी। यह उनका सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनके अनुसार गुरु को आकाशधर्मा होना चाहिए जो पौधे को बढ़ने के लिए उन्मुक्तता दे, न कि शिलाधर्मी, जो पौधे को अपने गुरुत्व से दबाकर उसका विकास ही रोक दे।

रामानन्द की लोकप्रियता का कारण यह था कि उन्होंने अपने उपदेशों का प्रचार क्षेत्रीय भाषा के माध्यम से किया। संस्कृत भाषा के माध्यम से उनका प्रचार केवल सीमित क्षेत्र में ही हो सकता था। क्षेत्रीय भाषा द्वारा अपने विचारों को समाज के सभी शिक्षित–अशिक्षित, स्त्री–पुरूष तक पहुँचाना चाहते थे।

समीक्षा

डॉ. ताराचन्द के अनुसार रामानन्द पर्वतीय निरन्तर प्रवाहित जल स्रोत के समान थे, जिससे मधुर सुख के रूप में जल बुदबुदा रहा था, जो सांसारिक दुःख से संतप्त हृदय की तृष्णा को शांत करने में समर्थ था। निस्संदेह रामानन्द ने मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद दुःख संतप्त हिन्दू समाज की तृष्णा को शांत किया। समाज के प्रतिष्ठित वर्ग ब्राह्मणों को भी असंतुष्ट नहीं किया तथा शूद्रों के समान अधिकार देकर जाति–पाति की भावना को शिथिल कर उन्हें इस्लाम धर्म स्वीकार करने से रोका। कबीर को अपना शिष्य बनाकर हिन्दु–मुस्लिम समन्वयवाद का मार्ग प्रशस्त किया। उनके विचारों से प्रभावित होकर उत्तर भारत में कबीर, महाराष्ट्र में नामदेव सुधार आंदोलन प्रारंभ किया। क्षेत्रीय भाषा के माध्यम से रामानन्द ने अपने विचारों का प्रचार किया। परिणामस्वरूप उनके अनुयायियों ने गुजराती, मराठी, बंगाली तथा हिन्दी के माध्यम से समाज सुधार संबंधी विचारों का प्रचार करके संपूर्ण भारत वर्ष की जनता में नवीन चेतना जागृत की। उनका उद्देश्य पृथ्वी पर रामराज्य की स्थापना करना, समाज तथा व्यक्ति का शुद्धीकरण करना था। वे जाति विहीन समाज, रूढ़िवादी का परित्याग, परिवार में एक विवाह प्रपत्ति तथा भक्ति द्वारा शरीर को शुद्ध करके मोक्ष दिलाना चाहते थे। कबीर, नानक तथा चैतन्य के सुधारों की पृष्ठभूमि तैयार करके समाज सुधार आंदोलन की समाज सुधारक राजा राममोहन राय, महात्मा गाँधी तथा नेहरू का मार्गदर्शन करके समाज सुधार आंदोनल के इतिहास में रामानन्द ने एक अमर स्थान को प्राप्त किया है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. अब्दुर रशीद : सोसाइटी एण्ड कल्चर इन मेडिवल इण्डिया।
2. अवध बिहारी पाण्डेय : मध्यकालीन भारत।
3. अबुल फजल : अकबरनामा (अनु. वेवरिज) 1907 ई.।
4. गोविन्द लाल छाबड़ा : क्रांतिकारी कबीर।
5. पी.डी. बड़थ्वाल : निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोइट्री
6. डॉ. बी. एन. लुनिया : भारतीय संस्कृति।
7. मैकलिफ : दि सिख।
8. डॉ. राधाकमल मुकर्जी : दि कल्चर एण्ड आर्ट आफ इण्डिया।
9. डॉ. युसुफ हुसैन : मेडिवल इण्डियन कल्चर।
10. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका।

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUNE, 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

''अंचल की भाषा संबंधी अवधारणा''

❒ डा. रश्मि श्रीवास्तव

शोध सारांश

अंचल जी की मान्यता है कि कविता में भले ही परम्परा बोध का प्रतिफलन होता है, लेकिन वह होती है कवि की मौलिक उद्‌भावना ही। कविता में भाषिक स्तर पर रचनाकार का ईमानदार होना उनकी वह दृष्टि में एक महत्वपूर्ण पक्ष है। सामाजिक यथार्थ के कटु–अनुभवों के शब्दों को व्यक्त करने की कला जिस कवि के पास नहीं होती वह कवि पूर्ण कवि नहीं कहला सकता। 'रचना में जीवन' इस मत को वे बहुत गहराई से प्रस्तुत करते हैं–जीवन के स्याह अंधेरे के बीच लिखी गई इन बहुवर्णी, बहु–भावभीनी में मेरा कितना क्या है, कहना कठिन है, इन कविताओं में जीवन के प्रति आकर्षण के नये–नये बिम्ब बार–बार प्रकट हुए हैं। जिस सामाजिक अनुभव एवं आतंक की प्रति[illegible]ती है, शब्दों में आंकता हूँ। पूरी ईमानदारी के साथ कहता हूँ। मेरी कवि[illegible]ी रूपान्तर की झलक मिल सकती है। इधर–उधर तो बाकी वही है, [illegible]क मेरा रहता आया है।

SHODH CHETNA Year-2016 Vol. 2 Allahabad

अंचल जी के काव्य में सूक्ष्म भावात्मक अभिव्यंजना और प्रेम की मौलिक उद्‌भावना मिलती है। उनकी रचनाओं में जीवन की मिठास, व्यक्ति की कोमल–कल्पना का शृंगार मिलता है। उन्होंने कविता को चेतना के धरातल पर अवतिरत किया तथा दलित मानवताओं से त्रस्त समाज को बाहर निकालने के लिए मानवतावाद को प्रतिष्ठापित किया। यों छायावादोत्तर काल के एक सशक्त कथाकार के रूप में उनके काव्य के विकास की जो जय यात्रा प्रारम्भ हुई थी। वह उन्हें गीतकार के रूप में चरम परिणित पर पहुँचाती हैं। उनके काव्य की भाषा पर टिप्पणी करते हुए डॉ. देवीप्रसाद कुँवर ने लिखा भी है–''उनके गीतों में पद विन्यास में कोमलता, स्निग्धता और क्रांति है। भाषा में चित्रात्मकता, लाक्षणिकता, व्यंजनात्मकता निरंतर परिलक्षित होती है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण उनकी अलग पहचान है।''

वस्तुतः उनकी यह टिप्पणी अंचल के गीतों में अन्तर्निहित लयात्मकता, विशिष्ट आस्था एवं जीवनाभूति को केन्द्र में रखकर की गई है। इनके काव्य में गीतात्मक सहज–भाव तथा भाषा का तरल रूप दिखाई पड़ता है। अंचल जी ने जीवन की

* अतिथि विद्वान् (हिन्दी), शास. पं. शम्भूनाथ शुक्ल स्नातकोत्तर महाविद्यालय, शहडोल (म.प्र.)

सत्यता को बहुत गहरे स्वर से स्वीकार किया है। फलतः कविता संबंधी उनकी अवधारणा मात्र कल्पनापरक विवेचना की दृष्टि से निर्धारित नहीं होती अपितु परम्परागत परिवेश और आधुनिक काल बोध की दृष्टि से परिभाषित होती है। उनकी स्वयं की मान्यता है–''आज की हिन्दी कविता अधिकांश रूप से अरूप बोध से अबोध, रचना से अरचना, शिल्प से अशिल्प और कविता से अकविता की ओर तीव्र गति से जा रही है, मेरी इन कविताओं की क्या गति होगी, जो पुराने भावगत और रूपगत मूल्यों को एकनिष्ठ सच्चाई से पकड़े हुए है। इतना अवश्य है, इसे मैं अपने परम्परा–बोध का प्रतिफल मानता हूँ। इन कविताओं में पाठक को कुण्ठाएँ नहीं मिलेगी ऐसा मेरा दावा नहीं है। पर ये कुण्ठाएँ उधार ली गई नहीं हैं और वे न आयात की गई हैं, वे कवि की हैं। उसकी आत्मा की पुकारों और भटकनों की जीवित जागृत प्रतीतियाँ हैं।''

अंचल जी ने शिल्प से अशिल्प और कविता से कविता की बात कहकर रूपगत स्वरूप से अरूपगत से स्वरूप की बढ़ती कविता की प्रकृति को रेखांकित किया है। इन्होंने कवि की अपनी सूझ–बूझ को अपनी आत्मा की पुकार को और अनुभूतिमयता को अभिव्यंजित करने की ओर सचेष्ट किया हैं।

अंचल जी ने ''इन अवाजों को ठहरा लो'' में कविता में प्रेम और आत्मा–समर्पण को सर्वाधिक महत्व दिया है। इसी संदर्भ में उन्होंने टूटे हुए विश्वासों और भटके हुए मन की अमूर्त चाहत में मूर्त जीवन के तमाम रास्तों को एक साथ देख लेने की कोशिश की है। वे स्वंय कहते हैं–''न जाने भीतर की कौन–सी त्रासदी है जो इतने स्वप्न, इतने विजन इतने विश्वासों को टूटने पर भी मन को भटकाये ही जाती है। जैसे इसी भटकन से कहीं–कहीं अमूर्त राह छिपी हों।''

उन्होंने जीवन की साधना को अन्तर्मन मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया कहा है जिसकी आधार भूमि है विचार–परिवर्तन और विश्वास–परिवर्तन की संभावित–भाव योजना शीलजयी खण्डकाव्य के संबंध में अपना विचार व्यक्त करते हुए इसी दृष्टिकोण को स्वीकृति दी है–''अशोक के क्रमबद्ध जीवनी का मेरा उद्देश्य नहीं रहा। मैंने उसके सम्पूर्ण विचार परिवर्तन और विश्वास परिवर्तन को अंतर्मन की मानवीय मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के रूप में देखा है।''

अंचल जी की अवधारणा है कि मानव कल्याण, विश्व–शांति, विश्व–मैत्री और मानवीय संवेदना को कविता में रूपायित किया जाना कवि का प्रमुख कर्म है–''स्वाधीन होने के बाद भारत निरंतर विश्व शांति, विश्व–मैत्री, समस्त विश्व–मानवता के कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहा है। उसी दिशा में अकिंचन कवि का यह (शीलजयी) अकिंचन प्रयास हैं।''

अंचल जी की समग्रता को व्याख्यायित करते हुए डॉ. विनय मोहन शर्मा ने अंचल की विविध–परिदृश्यों में व्यक्त भावना को व्याख्यायित किया है। उन्होंने अंचल की काव्य–भाषा पर अंचल के दृष्टिकोण से ही टिप्पणी करते हुए लिखा ''अंचल की कविता में संस्कृतगर्भित भाषा (खड़ी बोली) का प्रमुखता से प्रयोग हुआ है। परन्तु उनके भाव संस्कृत शब्दों में उतरने के लिये ही नहीं रूके। उन्होंने प्रचलित उर्दू, अरबी, फारसी, शब्दों का निस्संकोच आश्रय ले अपने प्रवाह की रक्षा की है। ब्रजभाषा जहाँ 'मिठास' में सहायक हो गई है, वहीं उसे भी अपना लिया गया है। 'अफसाना', 'सितम्', 'सनम', 'जिगर', 'तपिश' 'पग डगर' आदि इसके उदाहरण हैं जो अहिंदी शब्द हमारी बोलचाल की भाषा में अधिकता से प्रयुक्त होने लगे हैं, उनको कविता में ले आने से भावों का उत्कर्ष ही हो सकता है और गति में स्वाभाविकता आ जाती है।''

जीवन और प्रकृति के अन्तर्संबंधों को व्यक्त करने में कविता का सौंदर्य निखरता है। रचना में कवि के भावानुभवों का संश्लिष्ट चित्र ही प्रकट होता है, जिससे सौंदर्य का विविध परिदृश्यों में अवतरण होता है। अंचल जी ने इस अवतरण को संपूर्णत्व की पहचान कहा है।

''जीवन और प्रकृति के अपने समस्त भावानुभावों के संश्लिष्ट चित्र उतारने की पद्धति आज भले ही पुरानी लगती हो किन्तु उसके सहज सौन्दर्य को भली–भाँति अनुभव किया जाता है। कविता का मूल स्वभाव संश्लेषण है। विश्लेषण तो शैली मात्र है जो अधिक उसे नपी–तुली कटी–छँटी सुडौलता प्रदान करता है। कविता को केवल सतही भावुक दृष्टि से देखनेवाले (आधुनिकता के दावेदार भी) और उसके नैरंतर्य और अतलस्पर्शी–पारदर्शी संपूर्णत्व को न पहचानने वाले इस प्रकार के बिखराव की बातें कह सकते हैं। खंडित व्यक्तिपरक, नवीन जीवन–दर्शनों के आधार–पर वे अपने मत की प्रवीणता भी स्थापित कर सकते हैं। किन्तु मैं कवि सत्य को इतना सीमित और लघु–मानवीय नहीं मानता। कवि का व्यक्तिगत अर्जित सत्य होकर भी वह विश्वमन और विश्वप्रकृति की पूर्णतम, महत, यथार्थ सत्ता से अलग नहीं हैं। व्यक्तिगत अर्जन पर आग्रह करते हुए भी अलग–अलग होकर भी समस्त कवि–सत्य विश्वमानव और विश्वबोध की महत् कल्पना को आपूर्णमान कर रहे हैं। कवि यथार्थ की अनुभूति कर उसका संबंध नये से जोड़ता हैं और नये मूल्यों और प्रतिमानों की प्रतिष्ठा करता है।''

अंचल जी ने कवि सत्य को प्रकट करना कवि का प्रमुख– धर्म बताया है। उन्होंने कवि सत्य को ही ऐसा तत्व घोषित किया जो अनुभूति को अबाध रूप में आकार देता है। लघुता स वृहत्तर आशय की ओर बढ़ने की प्रेरणा और प्रवृत्ति को ही उन्होंनें परम्परा–बोध का परिणाम निरूपित किया। इसी से प्रकृति का स्वरूप निर्धारित होता है–''परंपरा और प्रयोग का समाजस्य रूपायित स्वरूप ही प्रगति है। परंपरा जीवित इकाई मात्र नहीं, वह हमारे सम्पूर्ण अस्तित्व की आंतरिक दीप्ति है, हमारी रचना–प्रेरणा की सहज–सुखद चारूता है। कविता में पंरपरा काल–क्रम की अबाधता और समग्रता की मूलभूत चेतना हैं। रूप और कथ्य के नये फैलाओं और आयामों की खोज जो कवि कर्म को नई–अर्थवत्ता और प्राणवत्ता प्रदान करे।''

कवि कर्म की ईमानदारी के प्रति उनकी राय हैं–''कवि कर्म की ईमानदारी दोहरी होती है। एक तो आपने यथार्थ अनुभूतियों के निष्कपट प्रकाशन की ईमानदारी, दूसरी युगमनः स्थिति और युग– अधर्म को सही युगधर्म में परिणित करने की ईमानदारी। पहले प्रकार की ईमानदारी तो कवि निभा रहे हैं, अपनी कविता में घुटन, संत्रास और वैफल्य को अभिव्यक्त कर। पर कवि केवल भावनाओं का परचुनी नहीं है कि जो सामने आता जाय और माँगा जाय उसे ईमानदारी से बिना डण्डी मारे बेचता रहे। उसे वस्तु जगत् के आशय को पकड़कर सामाजिक शिव के सदाशय के साथ उसका विनियोग भी करना है। उसे संस्कार–शीलता के मिटते जाते रंगों को फिर से जिला–जिलाकर परिणित की छवियों को अंकित करना है।''

इन छवियों के मर्मस्पर्शी भावों की अभिव्यक्ति ही कवि–कर्म के कौशल की असली पहचान है। इस आधार पर ही उन्होंने कालिदास की कवि–कला के अनुभूतिमय रस संचार करने वाले पक्ष की प्रशंसा इन शब्दों में की है–

''किसी कुमार के आंलिगन–सी कवि कला तुम्हारी।
कर देती संचार तड़ित का ओ सुर लोक बिहारी।
तरल तारकों के मोती का सार तुम्हारी वाणी।
कोटि–कोटि प्यासे हृदयों की तृप्ति बनी कल्याणी।''

विधुत–धर्मी इस रस संचार को ही हृदय की अनुभूति कहा जाता है। अंचल जी ने रचना के इस गुण को ही रागात्मक निस्संगता कहा है और भाषा और अभिव्यक्ति के समन्वित प्रवाह के अर्न्तसम्बन्धों को काव्य–भाषा का प्राणतत्व माना है–''संगति और लयमयता को त्यागने से ही भाषा और अभिव्यक्ति में ही रागात्मकता निस्संगता नहीं आ जाती।''

अंचल जी भाव के प्रभाव को शिल्प रचना से कहीं अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। किसी भी कथ्य से बिम्ब–विधान आंस्था, विश्वास की प्रवहन–शीलता ही रचना को ताकत देती हैं। इसलिए सफल रचनाकार वहीं कह सकता हैं जो बिम्बों और प्रवाहों के जरिये किसी भी भाव–बोध को भाषा में ढालने में सफल होता है और काव्य भाषा को नया आयाम देता है–''केवल शिल्प बदलने से या लिखने का दंग परिवर्तित करने से कथ्य में अन्तर्निहित बिम्ब, विश्वास, आस्था और अनास्था नहीं बदल जाती। पुराना भाव–बोध और भावकथ्य भी बिम्बों और प्रभावों के नये आयामों से गुजरने पर नवीनतम् गतिशील हो जाता है।'' अंचल जी को कवि–सम्मेलनीय भाषा से परहेज है। इसीलिए उन्होंने आक्रोश व्यक्त करते हुए कहा कि आज का कर्म किसी न किसी शिविर से सम्बद्ध है और किसी न किसी दिशा में प्रतिबद्ध है। मूल कारण यह है कि वह इस तरह की वैशाखी के बगैर स्वयं को असुरक्षित एवं अस्थिर पाता है और यही वजह है कि वह उस अर्थ में अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो सकता जिस अर्थ में निराला, बच्चन, दिनकर, सुमन खड़े थे। काव्य भाषा में यदि सरलता और सहजता होती है तो काव्याभिव्यक्ति में ऊँचाई स्वयमेव आ जायेगी। फिर भी उनकी काव्य भाषा में थोड़ा बहुत पंडिताऊपन एवं तत्सम–प्रधान मिलती हैं। उनकी स्वयं की मान्यता है कि – अज्ञेय की आतंकभरी अभिजात्यपूर्ण भाषा में संस्कृतनिष्ठता मेरी इन कविताओं में प्रयुक्त भाषा से कहीं अधिक है और बीच–बीच में प्रयासपूर्वक लाये गये प्राकृत शब्दों का समावेश उसके पण्डिताऊपन को कम नहीं करता। किसी गुट के शामिल न होने के कारण मैं, सम्भव है, इसलिए विरोधी आलोचना का पात्र बन जाऊँ कि ''एक शाम'' प्रत्यागता ''नर्तकी'' आधी रात ''तोड़ो–तोड़ो'' क्या पतालक प्राण के बीजाणु सारे चुक गये 'काल–वैशाखी' जैसी अनेक प्रकृति–चित्रण पूर्ण कविताओं में मैंने पुरानी भाषा छोड़कर यह तत्सम–प्रधान भाषा क्यों अपनायी। पर प्रकृति और ऋतु–चित्रों की विविधरूपा आत्म–संवेदनाओं और विश्वासों के संस्पर्श से भरी कुण्ठामुक्त अभिव्यक्तियों के लिए और उसमें निहित मानवीय गंधों और रंगों के लिए जो रूढ़ बन गयी प्रतीतियों से हटकर चलती हों, भाषा का यह अछूता निर्माल्य स्वाभाविक है।

संदर्भ स्रोत

1. अंचल समग्र–डॉ. देवी प्रसाद कुँवर (सं.), पृष्ठ 26
2. वर्षान्त के बाद–रामेश्वर शुक्ल अंचल, पृ. 44
3. आधुनिक काव्य रचना और विचार–नन्ददुलारे बाजपेयी
4. आधुनिक हिन्दी काव्य में यथार्थवाद–डॉ. परशुराम राही
5. आधुनिक हिन्दी काव्य–डॉ. राजेन्द्र प्रसाद मिश्र, प्रकाशन–ग्रन्थम् रामबाग, कानपुर
6. आधुनिक हिन्दी काव्य मनोवैज्ञानिक अध्ययन–डॉ. बनवारीलाल द्विवेदी

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUNE, 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

'अष्टमशताब्दी के संस्कृत काव्यों में शिल्प कला'

❐ डॉ. पूनम

शोध सारांश

किसी भी काल में जब समाज के समस्त अंग–सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक आदि समतुल्य होकर एक–दूसरे के सहायक होते हैं तो वह समाज उन्नत अवस्था को प्राप्त होता है और यदि इनमें से किसी भी सामाजिक अंग की अवनति होती है तो वह समाज के अन्य अंगों पर प्रभाव डालती है जिससे समाज पतनोन्मुख होता है। यही अव्यवस्था अष्टम शताब्दी में परिलक्षित होती है। तत्कालीन भारतीय समाज वैदेशिक आक्रमण, अन्तर्कलह, गृह–युद्ध एवं आर्थिक अव्यवस्था के कारण अत्यधिक अस्थिरता को प्राप्त हो चुका था। साहित्य समाज का दर्पण होता है। अतः उस समय के संस्कृत साहित्य में परिलक्षित होता है।

पुरातन काल से मानव अपने सर्वांगीण विकास एवं आत्मानन्द प्राप्ति के लिए विभिन्न प्रकार के क्रिया–कलापों में सम्मिलित रहा है परिणामतः वह नवीन विधाओं का आविष्कार करता रहा है। उन्हीं विधाओं में शिल्पकला भी एक ऐसी विधा है जो विभिन्न रूपों में परिलक्षित होती है। 'शिल्प' शब्द शिल् धातु में पक् प्रत्यय के योग से बनता है, जिसका अर्थ ललित कला, यांत्रिक कला–कुशलता है। शिल्प कला मनुष्य के व्यवहार जगत् का विज्ञान है, जिसका सम्बन्ध हस्तकौशल अथवा हुनर से है। शिल्प ही मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन शैली का नियामक है। इसी के आधार पर मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता रहा है।

अष्टम शताब्दी के समाज में शिल्पकला के अनेक विकसित एवं परिष्कृत रूप प्राप्त होते हैं। आर्थिक एवं सामाजिक विकास के द्योतक शिल्पकला के माध्यम से हम तत्कालीन राष्ट्र एवं समाज की दशा का मूल्यांकन कर सकते हैं। तत्कालीन संस्कृत साहित्य में शिल्पकला विविध रूपों में दृष्टिगोचर होती है–चित्रकला, मूर्तिकला, वस्त्र निर्माण कला, लौहकला, काष्ठकला, मिट्टीकला, आभूषणकला तथा रस्सी निर्माणकला इत्यादि। जिसने आगामी समाज का पथ प्रदर्शन किया।

* प्राध्यापक (संस्कृत विभाग), डी.ए.वी. (पी.जी.) कॉलेज, बुलन्दशहर, मो. 9761234491,
ई-मेल : dr.poonam43@gmail.com

प्राचीन काल से ही मानव अपने सर्वांगीण विकास एवं आत्मानन्द के लिए विभिन्न प्रकार के क्रिया–कलापों में सम्मिलित रहा है। परिणामतः वह नई–नई विधाओं का आविष्कार भी करता रहा है। उन्हीं विधाओं में शिल्पकला एक ऐसी विधा है जो विभिन्न प्रकार की होती हुई भी अन्यान्य विशिष्टिताओ से परिपूर्ण है।

'शिल्प' शब्द शिल् में पक् प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ ललित कला, यान्त्रिक कला–कुशलता अथवा कारीगरी है।[1] वास्तव में शिल्प मनुष्य के व्यवहार जगत का विज्ञान है जिसका सम्बन्ध हस्तकौशल से है। शिल्प ही मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन शैली का नियामक है। इसी के आधार पर मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। कला शब्द कल + कच् + टाप् प्रत्यय के योग से बना है, जिसका अर्थ है किसी वस्तु का छोटा खण्ड, टुकड़ा, लवमात्र आदि।[2] इसके अन्तर्गत प्रयोगात्मक कला एवं ललितकलादि चौसठ कलाएँ आती हैं। कला एवं शिल्प (कारीगरी) को दो भिन्न अर्थों में लिया जाता है। वास्तव में कला का सम्बन्ध सच्ची एवं सूक्ष्म मानसिक दृष्टि से है, जबकि शिल्प का सम्बन्ध शरीर के बाह्य हस्तकौशल से है।

वेदों में विभिन्न शिल्पियों और उद्योगों का विस्तार से वर्णन किया है। यजुर्वेद के तीसवें अध्याय में शिल्प एवं शिल्पियों का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। 'ऋग्वेद' में शिल्प के लिए 'कारू' शब्द का प्रयोग किया गया है।[3] अमरकोश में भी 'कारूः शिल्पी' कहा गया है।[4] 'यजुर्वेद' में शिल्प को वि॰देव (शिल्पो वै॰देवः) की संज्ञा दी गयी है।[5] 'मुण्डकोपनिषद' में तो शिल्पियों को ब्रह्मवेत्ताओं से भी श्रेष्ठ कहा गया है।[6] ऋग्वेद में लकड़ी के काम करने वालों का उल्लेख मिलता है।[7] कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी वर्णित है कि स्कन्धवार निर्माणार्थ स्थान चयन हेतु सेनानायक वास्तु–निर्माण विशेषज्ञ के साथ–साथ वर्धकी के अभिमत को भी समान रूप से मानते थे।[8] महर्षि पाणिनि ने भी अनेक शिल्पियों एवं उनके व्यवसायियों का उल्लेख किया है। मिट्टी के बर्तन के रूप में कौलालक तथा बनाने वाले को कुलाल कहा है।[9] तक्ष या बढ़ई लकड़ी का सामान बनाता था तथा धनुष का निर्माण करने वाला धनुषकार कहा जाता था।[10] उस समय लाल, पीले, नीले तथा गुलाबी आदि रंगों के कपड़े एवं रंगों आदि का भी उल्लेख मिलता है।[11] बाणभट्ट कृत 'अवन्तिसुन्दरी' में शिल्पियों को विश्वकर्मा का प्रतिरूप कहा गया है।[12] इस प्रकार शिल्पकला अत्यन्त प्राचीन काल से निरन्तर अवस्था से प्राप्त होती रही है।

अष्टमशती के संस्कृत काव्यों में इस शिल्पकला के अनेक विकसित और परिष्कृत रूप प्राप्त होते हैं। सामाजिक और आर्थिक विकास के द्योतक शिल्पकला के माध्यम से हम उस काल के राष्ट्र एवं समाज की स्थिति का मूल्यांकन कर सकते हैं, जो निम्नवत् है–

चित्रकला–

किसी भी सजीव एवं निर्जीव वस्तु के रूप एवं आकार को किसी भी आधार पर सजीवता से आकार देना चित्रकला कहलाता है। चित्रकला का प्रारम्भ वैदिक युग से ही हमें प्राप्त होता है। वैदिक समाज में यज्ञ–वेदी अनेक चित्रों से चित्रित की जाती थी। चावल, आटा, तिल आदि को रंग करके वेदी पर सजाया जाता था, जो चित्रकला का प्रतीक है। अष्टम शती का समाज भी चित्रकला से भली भांति परिचित था।

तत्कालीन साहित्य में इसके विभिन्न प्रमाण मिलते हैं। मुरारि की रचना 'अनर्घराघव' में षष्ठा में राम–रावण के युद्ध के समय सीता के उस चित्र

का वर्णन है जिस पर रावण ने चित्रकला का अभ्यास किया।[13] चित्रों का अंकन फलक पर ही अपितु वस्त्रों इत्यादि पर भी होता था। जिसका प्रमाण राम की पताका पर मयूरपिच्छ की आकृति थी।[14] इसी प्रकार रावण के केयूर में कैलाश पर्वत की आकृति मकरकृति के रूप में रावण ने चित्रित कराई थी।[15] ''तापसवत्सराज' ने यौगन्धरायण द्वारा भेजे हुए उदयन के सजीव चित्र को देखकर ही पद्मावती उदयन के सौन्दर्य पर आसक्त हो उसके प्रेम में तपस्वी का रूप धारण कर लेती है।[16] मालती–माधव में भी मालती अपनी विरहावस्था में माधव के सुन्दर चित्र का निर्माण करती है।[17] भवभूति के सर्वश्रेष्ठ नाटक ''उत्तररामचरित'' के प्रथम अंक में हमें चित्रकला की पराकाष्ठा का ज्ञान होता है। इसमें अर्जुन नामक चित्रकार अपने हाथों से[18] श्री राम के बाल्यकाल से लेकर वनवास काल तक की प्रमुख घटनाओं को इतनी सुन्दरता एवं सजीवता से चित्रित किया कि चित्र दर्शन के समय राम–लक्ष्मण और सीता उन्हें देखकर ऐसा महसूस करते हैं मानों वे घटनाएँ पुनः घटित हो रही हों।[19]

अवन्तिसुन्दरी कथा में भी अनेक चित्रों का प्रसंग मिलता है। दीवारों तथा वस्त्रों पर चित्रों को चित्रित कर उन्हें अनेक रंगों से सजाया जाता था।[20] ''रत्नावली' में सागरिका ने कामदेव के रूप में राजा उदयन को तथा सुसंगता ने रति रूप में सागरिका का चित्र बनाया।[21] वहाँ चित्र को रंगने के लिए कुची, रंग आदि का वर्णन किया है। चित्र को रंग देने से उसका स्वरूप और आकर्षक हो जाता है।

मूर्तिकला–

चित्रकला के ही अनुरूप शिल्पकलाओं में स्थित मूर्तिकलाओं का इतिहास पुरातन है। सिन्धु घाटी सभ्यता के अनुसार तत्कालीन लोग अनेक देवी–देवताओं की मूर्तियाँ बनवाकर अराधना करते थे। तत्पश्चात् मौर्य युग में पुनः मूर्ति कला अपने यौवन की लालिमा के लिए अविर्भूव हुई। लौरियानन्दगढ़ की मृतक समाधि में नग्न नारी की स्वर्ण प्रतिमा कला के विकास की कहानी को व्यक्त करती है।[22] इसी क्रम में 'गुप्तकाल' में भी मूर्तिकला अपने चर्मोत्कर्ष पर थी। कौशाम्बी में एक प्रस्तर खण्ड पर खड़ी शिव–पार्वती की विलक्षण मूर्ति इस काल में मिली। गुप्त कालीन मूर्ति कला के ललितपुर झांसी में देवगढ़ का मन्दिर, सारनाथ की भगवान बुद्ध की आसीनावस्था की मूर्ति, मथुरा की खड़ी मूर्ति व लगभग सात फुट की अभ्य मुद्रा प्रदर्शित करती बुद्ध–प्रतिमा, सारनाथ स्थित धर्म–चक्र प्रवर्तन की मूर्ति तथा शिलालेखों और सिक्कों के अतिरिक्त गुप्त काल की बहुत–सी मूर्तियाँ, मन्दिर, स्तम्भ व अन्य अवशेष इस समय प्राप्त श्रेष्ठ उदाहरण हैं। गुप्तकाल में बौद्ध, शैव, वैष्णव और जैन सभी सम्प्रदायों से सम्बन्धित मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं।[23] 'पल्लव' कालीन समाज में मूर्तिकला की अनेक शैलियाँ व्यवहार्य थीं। वहाँ महेन्द्र–शैली के अतिरिक्त ''मामल्य–शैली'', ''राजसिंह–शैली'' और ''अपराजित–शैली'' मूर्तिकला की प्रमुख शैलियाँ थीं। तत्कालीन शिल्पी स्वतन्त्र रूपों की कल्पना और विन्यास में मौलिक तथा दक्ष थे। ऐसी रचनाओं में कथात्मक दृश्यांकन की दृष्टि से गंगावतार का दृश्य और स्वतन्त्र की दृष्टि से कपियुग्म की रचना विश्व विख्यात है।[24]

पल्लव राजवंश के मणि कवि ''दण्डी'' की रचनाओं में मूर्तिकला का विकास परिलक्षित होता है।[25] इसके अतिरिक्त अन्य मन्दिरों एवं शिवालयों आदि का वर्णन भी दण्डी साहित्य में मिलता है। भवभूर्ति कृत मालतीमाधव में कपालकुण्डला बलि के लिए मालती का अपहरण करके अघोरघट्ट के पास ले जाती है जो अपने मन्दिर में स्थित कराला

(काली) की मूर्ति के समक्ष मालती का वध करना चाहता है।[26] अनर्घराघव के तृतीय अंक में राम–लक्ष्मण के सन्दर्भ में सुन्दर मूर्ति[27] शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है। इसी अंक में कठपुतली नृत्य का वर्णन मिलता है, जो मूर्ति द्वारा ही सम्पन्न होता था।[28] उत्तर रामचरित में राम का अश्वमेघ यज्ञ में स्वपत्नी सीता के स्थान पर स्वर्णमयी सीता के साथ यज्ञ के सम्पादन का निश्चय[29] सिद्ध करता है कि तत्कालीन समाज में मूर्तियों को पत्थर, स्वर्ण, सूत इत्यादि से भिन्न–भिन्न प्रकार से निर्मित किया जाता था।

लौहकला–

तत्कालीन समाज में लौहकला भी अपने चर्मावस्था को प्राप्त कर समाज की आवश्यक वस्तुओं के निर्माण में महती योगदान देती थी। शस्त्र के क्षेत्र में उत्तररामचरित में तलवार[30], अनर्घराघव में कुठार[31] कवच[32] एवं बेड़ी[33] आदि लोहे से निर्मित वस्तुओं का तथा नित्य आवश्यकता की वस्तुओं में हल[34], छैनी[35], कशुंकी[36], दर्पण[37], मालती माधव में पिंजड़े[38] का वर्णन मिलता है। दशकुमार चरित में भी अन्य लौह यन्त्रों के साथ मिट्टी खोदने वाली कुदाल का भी वर्णन है।[39]

काष्ठकला–

सम्भवतः मानव प्राकृतिक वस्तुओं में काष्ठ का सर्वाधिक प्रयोग करता रहा है। जल मार्ग से व्यापार की प्रधानता होने के कारण तामसवत्सराज में जहाज[40] एवं नौका[41] का वर्णन मिलता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में उल्लेख है कि– नाव एवं पोतों के निर्माण करने पर राज्य का राजनीतिक एवं व्यापारिक महत्व बढ़ जाता है।[42] महावीर चरित में ब्रह्मचारी स्वरक्षा हेतु काष्ठ निर्मित दण्ड धारित करता था।[43] दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं में सामान को तौलने वाली तराजू[44] ऊँचाई पर चढ़ने के लिए सीढ़ी एवं जल संचय हेतु प्रयुक्त कमण्डल[45], जल युक्त स्थान को पार करने के लिए सेतु[46], हल, ढाल, फावड़ा, रथ, बिस्तर, पिटारी आदि अन्यान्य काष्ठ निर्मित वस्तुओं का प्रयोग होता था। युद्ध में प्रयुक्त होने वाले कुछ अस्त्र जैसे– बाण[47], डण्डा[48], तरकश[49] एवं धनुष[50] आदि काष्ठ द्वारा ही निर्मित होते थे। इसके अतिरिक्त लेखनी तथा ऋषियों के वस्त्र[51] के रूप में वृक्षों की छाल का प्रयोग होता था, जो तत्कालीन समाज में काष्ठकला की उन्नत अवस्था का द्योतक है।

मिट्टीकला–

प्राचीन काल से ही बौद्धिक होने के कारण मानव अपने समीप स्थित प्राकृतिक तत्वों का अपनी आवश्यकतानुसार प्रयोग करता आया है। परिणामतः अष्टम शती के मानव ने भी सुगमता से प्राप्त होने वाली मिट्टी को अपनी कला के द्वारा उपयोग किया। इसका श्रेष्ठ उदाहरण अर्न्तराघव में है कि यज्ञ–वेदी मिट्टी द्वारा निर्मित होती थी।[52] इसके अतिरिक्त धन तथा अन्य पदार्थ को सुरक्षित रखने के लिए कच्चे पात्रों को प्रयोग में लाया जाता था।[53] इसके साथ ही क्रीड़ा आदि के लिए मिट्टी द्वारा निर्मित विभिन्न जीव–जन्तुओं के आकार के खिलोने तथा मिट्टी के बर्तनों का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[54]

वस्त्रनिर्माण–

तत्कालीन समाज क्षौम, पट्टसूत्र, सन, तसर, कपास, चर्म आदि के द्वारा वस्त्रों का निर्माण करता था तथा स्वहस्तनिर्मित वस्त्रों के अतिरिक्त मालती माधव में चीन देश के बारीक रेशमी वस्त्र का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[55] रेशमी वस्त्रों के अतिरिक्त लोग विभिन्न रंगों के वस्त्रों को धारण करते थे, जिनमें लाल और सफेद रंग प्रमुख था।[56] महावीरचरित के अनुसार ऋषियों एवं ब्रह्मचारियों

द्वारा मृग चर्म को बल्कल के रूप में धारण किया जाता था।[57] अनर्घराघव में उल्लेख है कि स्त्रियाँ स्तन और स्वअंग को ढकने के लिए सिले हुए वस्त्रों को पहनती थीं।[58] कामशास्त्र में सिलाई की गणना चौसठ कलाओं में की गयी है।[59] जो सिलाई का कार्य करता था, उसे दर्जी कहा गया है।[60] तत्कालीन समाज में यह कला पूर्ण विकसित प्रतीत होती है। महावीरचरित में वर्णन है कि सीता का जो चद्दर रावण के अपहरण के समय गिरता है उस पर सिलाई के माध्यम से 'अनुसूइया' लिखा होता है।[61]

आभूषणकला–

तत्कालीन समाज में आभूषण सौन्दर्य वृद्धि एवं बाह्य आसुरी शक्तियों से सुरक्षित रहने के लिए धारण किये जाते थे। सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति के आधार पर लोग हीरा, सोना, चाँदी, हस्तिदन्तादि से निर्मित आभूषण नख से लेकर शिख तक आभूषणों को धारण करते थे। अनर्घराघव में उल्लेख है कि जिस प्रकार पुरूष स्वशिर पर (रत्न व मणि युक्त) मुकुट का प्रयोग करते थे।[62] उसी प्रकार स्त्रियाँ भी बालों के गुच्छे को नियन्त्रित एवं सौन्दर्यशाली बनाने के लिए चूड़ामणि नामक आभूषण का प्रयोग करती थीं।[63] उत्तररामचरित में स्त्री–पुरूष दोनों ही गले में धारण करने वाले हार पहनते थे, जो विविधताओं से युक्त होते थे।[64] इसके अतिरिक्त आभूषणों में कुण्डल[65], कंकण[66], पखाबज[67], हस्तिदन्त[68] से बने आभूषण, नुपुर[69] एवं पायजेब[70] का यथास्थान समुचित उल्लेख मिलता है।

रस्सीनिर्माण कला–

अष्टम शती के समाज में अन्य शिल्पकलाओं के अतिरिक्त रस्सी निर्माण एवं प्रयोग का भी वर्णन प्राप्त होता है। धनुष में जिस प्रत्यंचा का प्रयोग होता था वह रस्सी की ही होती थी।[71] साथ ही किसी वस्तु की तौल के लिए तराजू में रस्सी[72] का ही प्रयोग होता था। माला के निर्माण में पुष्प को एक सूत्र के धागे में पिरोया जाता था, जो एक प्रकार की रस्सी ही होती थी।[73]

उपर्युक्त समस्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समाज में स्वरूचि एवं अपनी आवश्यकता के अनुरूप भिन्न–भिन्न संसाधनों को अपनी कला के माध्यम से अपने सहयोग की वस्तु बना लिया जाता था। परिणामतः उस समय शिल्पकला अपनी विशिष्टता एवं आवश्यकता के कारण उत्कृष्ट अवस्था में थी। उसी कला का कुछ परिष्कृत एवं कुछ विकृत रूप आज भी सामाजिक कलाओं में दृष्टिगोचर होता है।

सन्दर्भ–

1. वामन आप्टे शिवराम, संस्कृत हिन्दी कोश, न्यू भारतीय कार्पोरेशन, दिल्ली 2002 पृ0 1098–99
2. वामन आप्टे शिवराम, संस्कृत हिन्दी कोश, न्यू भारतीय कार्पोरेशन, दिल्ली 2002 पृष्ठ 256
3. ऋग्वेद, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी 1991, 1/112/3
4. अमरकोश, इन्द्रा प्रकाशन, 1972 2/10/5
5. यजुर्वेद, मो0 ला0 ब0, वाराणसी, 1971, 29/58
6. मुण्डकोपनिषद्, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी 2000, 3/1/4
7. ऋग्वेद 1/61/4
8. कौटिल्य अर्थशास्त्र 10/1
9. अष्टाध्यायी 4/3/198, चौ0 ओ0, वाराणसी 1977
10. अष्टाध्यायी 3/2/21
11. अष्टाध्यायी 3/4/154, 6/4/94
12. अवन्तीसुन्दरी, अ0श0वि0वि0 1954, पृष्ठ 7

13. अनर्घराघवम् 7/11
14. अनर्घराघवम् 6/65
15. अनर्घराघवम् 7/46
16. तापसवत्सराजम् पृष्ठ 8, पृष्ठ 77
17. मालतीमाधव, पृष्ठ 24, पृ0 60
18. उत्तररामचरितम् साहित्य भण्डार मेरठ, पृष्ठ 44
19. उत्तररामचरितम् साहित्य भण्डार मेरठ, पृष्ठ 25 से 59
20. अवन्तिसुन्दरी अ0श0वि0वि0, 1954 पृष्ठ 35
21. रत्नावली, साहित्य भण्डार मेरठ, 1987, पृष्ठ 46
22. प्राचीन भारतीय कला एवं संस्कृति, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, सिंह एवं यादव, पृष्ठ 66
23. भारतीय संस्कृत का विकास, श्री सरस्वती सदन, नई दिल्ली, विद्यालंकार सत्यकेतु, 1998
24. दक्षिण भारत, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1992, श्रीवास्तव बलराम, पृष्ठ 305
25. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीटिका, चौखम्बा आ0 भा0 प्र0 वाराणसी पृ0 27 व वही अष्टमीच्छ्वास, उत्तरपीटिका, पृष्ठ 4 – 51
26. मालतीमाधवम्, पृष्ठ 209
27. अनर्घराघव 3/24
28. अनर्घराघव पृ0 134
29. रामः – नहि नहि। हिरण्मयी सीताप्रतिकृतिः। उत्तररामचरित, पृ0 221
30. उत्तररामचरित, पृष्ठ 103
31. अनर्घराघव 4/15
32. अनर्घराघव पृष्ठ 369
33. अनर्घराघव 6/25
34. अनर्घराघव पृष्ठ 125
35. अनर्घराघव 1/22
36. अनर्घराघव 5/48
37. अनर्घराघव 7/37
38. मालतीमाधव, पृष्ठ 134
39. दशकुमारचरित, सप्तमोच्छवास, उत्तरपीटिका, पृष्ठ 397
40. तापसवत्सराज, 2/11
41. तापसवत्सराज, 1/13
42. अर्थशास्त्र, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1990, 2/28
43. महावीरचरित 1/18
44. अनर्घराघव 7/152
45. अनर्घराघव 3/15
46. अनर्घराघव पृष्ठ 378
47. अनर्घराघव 2/20
48. उत्तररामचरित, 4/20
49. उत्तररामचरित, 4/20, पाणौ कार्मुकम्।
50. तापसवत्सराज, 3/11
51. अनर्घराघव पृष्ठ 134
52. अनर्घराघव 2/17
53. अनर्घराघव पृष्ठ 329
54. मनुस्मृति, संस्कृति संस्थान, बरेली, 8/289
55. मालतीमाधव, पृष्ठ 615
56. मालतीमाधव, पृष्ठ 225
57. महावीरचरित, 1/18 ।। दशकुमारचरित, चौखम्बा, अ0भा0प्र0 वाराणसी, 2004 पृ0 417
58. अनर्घराघव 7/98
59. कामशास्त्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1/3/5
60. अमरकोश, इन्दिरा प्रकाशन, 1972, 2/107
61. महावीरचरित

62. अनर्घराघव 7/112
63. मालतीमाधव, 9/39, महावीरचरित पृष्ठ 248, तापसवत्सराज 1/12
64. उत्तररामचरित 1/29, मालतीमाधव, 6/12, अनर्धराघव 6/26
65. अनर्घराघव 7/78
66. मालतीमाधव 6/14, तापसवत्सराज 1/22
67. मालतीमाधव 1/2
68. मालतीमाधव 1/25
69. मालतीमाधव, पृष्ठ 42
70. मालतीमाधव, पृष्ठ 257
71. महावीरचरित 3/29
72. अनर्घराघव 7/81
73. मालतीमाधव, पृष्ठ 36

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUNE, 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

'सरस्वत्यै नमः'

''वाल्मीकीय रामायण में प्रतिपादित औषधीय वृक्ष एवं उसकी उपादेयता''

❐ रंजीता मौर्या

शोध सारांश

मनुष्य की कोई भी प्रवृत्ति सप्रयोजन होती है। आदिकाल से मानव ने अपनी इस प्रयोजनपूर्विका प्रवृत्ति के कारण प्रकृति के चित्र-विचित्र रहस्यों का उद्घाटन किया है और उद्घाटन से अपने जीवन को सुखी एवं समृद्ध बनाया है। मनुष्य के दीर्घजीवन की कामना करने वाले महर्षियों ने देखा कि विभिन्न कारणों से रोग उन व्यक्तियों में भी हो रहे हैं जिन्हें सामान्यतः स्वस्थ रहना चाहिए। अतः महर्षियों ने हिमवत् पार्श्व में एकत्र होकर औषधियों व वनस्पतियों को खोजा जिससे इस समस्या का समाधान हुआ और जिसका उचित सेवन कर मनुष्य निरोग एवं दीर्घकालीन जीवन प्राप्त कर सका। वनस्पति जगत मानव के सुख-दुःख दोनों के साथी हैं। वृक्ष मूल में सन्तप्त प्राणी को कोई-न-कोई संजीवनी अवश्य मिलती है। विषाद, थकान में भी वृक्ष की छाया शरण बनती है। रामायण काल में वृक्षों की बहुमुखी भूमिका थी। मानव जीवन के हर प्रसंग में वे प्रतीकात्मक रूप से उपस्थित रहते थे। रामायण में औषधि वनस्पतियों के द्योतक हैं और ये वनस्पतियाँ आयुर्वेदिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

संस्कृत साहित्यकाश के देदीप्यमान नक्षत्र आदिकवि महर्षि वाल्मीकि द्वारा विरचित 'रामायण' भारतीय वाङ्मय की अक्षुण्ण निधि के रूप में प्रसिद्ध है। अपनी सहचरी कौञ्ची के साहचर्य की सुखानुभूति में मग्न हुए किन्तु अकस्मात् ही उसी अवस्था में किसी व्याघ्र के बाण से मर्माहत हुए और करुण क्रन्दन करते हुए क्रौञ्च विहग को नयनगोचर करके महर्षि वाल्मीकि के मुख से जो कारुणिक एवं मार्मिक उद्गार उद्भूत हुआ, उसे सुनकर ब्रह्मा जी द्वारा महर्षि को आदर्शमयी इस रामकाव्य रचना के आदेश का दिया जाना निःसन्देह स्वयं में एक अनूठा प्रसंग है। आदिकाव्य रामायण में जहाँ एक ओर सामाजिक, आर्थिक, ज्योतिष आदि विषय सहृदय सामाजिक को आश्चर्य मिश्रित आह्लाद प्रदान करते हैं, वहीं दूसरी ओर यह काव्य भौगोलिक व औषधीय दृष्टि से भी अति महत्वपूर्ण है।

* शोधच्छात्रा, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान (गङ्गा नाथ झॉ परिसर, आजाद पार्क), इलाहाबाद।

वनस्पतियाँ हमारे जीवन की प्रहरी हैं, रक्षा कवच हैं वन और वृक्षों के अस्तित्त्व के साथ मानव समेत समस्त प्राणियों का अस्तित्व जुड़ा है। हमारे देश में कई औषधियाँ ऐसी हैं कि यदि उनकी व्यवस्थित रूप से खेती की जाए तो भारत आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ होगा और चिकित्साशास्त्र में उनके माध्यम से अनेक गुणों को प्रतिपादित किया जायेगा और समाज लाभान्वित होगा। औषधीय दृष्टि से यदि वाल्मीकीय रामायण में प्रतिपादित वृक्षों की विवेचना की जाए तो उस काल के मानव जीवन में वृक्षों का अत्यन्त महत्त्व था।

सघन हरे-भरे वृक्ष और धरित्री की शस्य-श्यामलता पर कवि वाल्मीकि सर्वत्र मुग्ध परिलक्षित होते हैं। मानव आकार, व्यवहार और जीवन के विभिन्न प्रसंगों में उन्हें वनश्री का अस्तित्व आकृष्ट करता है। वाल्मीकीय रामायण के अनुसार हिमालय के अंगभूत ऋषभ और कैलाश पर्वत के बीच में सर्वाधिक औषधियों का एक ऐसा पर्वत था जिसके ऊपर चार औषधियाँ दशों दिशाओं को प्रकाशित किया करती थीं।

तयोः शिखरयोर्मध्ये प्रदीप्त मतुलप्रभम्।
सर्वौषधियुतं वीर द्रक्ष्यस्योषधिपर्वतम्।।[1]

ये औषधियाँ थी—मृत संजीवनी, विशल्यकरणी, सुवर्ण-करणी और संधानी। जिनका प्रभाव क्रमशः मूर्च्छा दूर करना, चेतना प्रदान करना, शरीर में धंसे बाण आदि को निकाल कर घाव भरना और पीड़ा दूर करना, शरीर में पहले जैसी कान्ति ला देना और टूटी हड्डी को जोड़ देना होता था।

मृत संजीवनी चैव विशल्य करणीमपि।
सुवर्णकरणीं चैव संघानीं च महौषधिम्।।[2]

रामायण में वर्णित एक बस्ती का नाम शल्कर्षण इसलिए पड़ गया था, क्योंकि वहाँ की औषधि का सेवन करने में शरीर में लगा बाण निकल जाता था।

औषधियों का महत्त्व उस समय और अधिक प्रकाशित होने लगा जब वन गमन करने को उद्धृत राम के हाथ में माता कौशल्या ने विशल्यकरणी औषधि अभिमंत्रित करके बांध दी थी जिससे उनकी समस्त आपदायें समाप्त हो जाएँ—

औषधि च सुसिद्धार्था विशल्यकरणां शुभम्।
चकाररक्षां कौशल्या मन्त्रैरभिजजाप।।[4]

वनस्पति जगत मानव के सुख और दुःख दोनों के साथी हैं। वृक्षमूल में सन्तप्त प्राणी को कोई न कोई संजीवनी अवश्य मिलती है। विषाद, थकान में भी वृक्ष की छाया शरण बनती है। सीता की खोज में थके हुए वानर भी वृक्ष का सहारा लेते हैं।

ते विचिन्तय पुनः खिन्ना विनिष्यत्य समागताः।
एकान्ते वृक्षमूले तु निषेदुर्दीनमानसाः।।[3]

वाल्मीकीय रामायण में प्रतिपादित कतिपय वृक्ष औषधीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है जैसे—

अरिष्ट (नीम)

इसे मर्त्यलोक का कल्पवृक्ष माना गया है आज यह न केवल भारत की बल्कि विश्व की एक प्रसिद्ध औषधि है। 'नीम की छाल, पत्तियाँ, जड़ एवं फल का उपयोग प्रभावशाली औषधि के रूप में किया जाता है—

निम्बः शीतो लघुर्ग्राही कटुपाको अग्निवाततनुत्।
अहृद्यः श्रमवृङ्कासज्वरारूचिकृमि प्रणुत्।।[5]

अर्थात् नीम शीतल, हल्का, ग्राही, पाक में चरपरा, हृदय को अप्रिय है और अग्नि, वात, परिश्रम, वृषा, ज्वर, अरुचि, कृमि, व्रण, पित्त, कफ, वमन, कोढ़ प्रमेह को नष्ट करता है।

नीम के फूलों की अपनी अलग विशेषता है। इसके फूल पित्तनाशक, कड़वे और कृमि व कफ को शान्त करने वाले हैं। नीम के फल, फूल और पत्ते तो उपयोगी हैं ही इसके बीज भी चमत्कारी होते हैं।

निम्बतैलं तु कुष्ठघ्नं तिक्तं कृमिहरं परम्।[6]

अर्थात् नीम के बीजों का तेल कड़वा है और कृमि और कुष्ठ रोग को नष्ट करता हैं। नीम के पंचांग (छाल, पत्ते, फूल, फल और जड़) रुधिर विकार पित्त कण्डू, व्रण, दाह और कुष्ठ को दूर करता है। नीम का अर्क श्रम, तृषा, खांसी, ज्वर, अरुचि और वमन दूर करता है।

अगुरु

वाल्मीकीय रामायण में चन्दन, सरल, पद्मक, देवदाक आदि के काष्ठ के साथ इसके चिता में जलाने का विधान दिखाया गया है।

चन्दनगुरुनिर्यासान् सरलं पद्मकं तथा।
देवदारुणि चाहृत्य क्षेपयन्ति तथापरे।।[7]

यह अपने कुल का सदा हरा भरा रहने वाला वृक्ष है। इसकी पत्तियाँ लम्बी, नुकीली और चर्मिल होती है। इसके तने की छाल पतली होती है। ग्रीष्म ऋतु में इसमें सफेद रंग के फूल गुच्छों में दिखाई देते हैं और इसमें फलागम वर्षा से होता है। इसके छिद्रों में राल के समान कोमल और सुगन्धित पदार्थ रहता है। जलाने पर इससे सुगन्ध फैलती है, अगरबत्ती बनाने में इसका प्रयोग किया जाता है।

औषधीय दृष्टि से अगरूशीत प्रशामक और खाँसी को नष्ट करता है। मन्दाग्नि और हृदय रोग में भी यह लाभकारी होता है।

अतिमुक्तक

अतिमुक्तक को मुक्तलता भी कहते हैं। इसे माधवी, भदमालती और बासन्ती भी कहते हैं।

''अतिमुक्तः कार्मुकश्च मण्डनों भ्रमरोत्सवः।
अविमुक्तो माधवी च सुवसन्तः पराश्रमः।।[8]

अर्थात् कार्मुक, मण्डन, भमरोत्सव, अविमुक्त, माधवी, सुवसन्त और पराश्रय—ये अतिमुक्तक के पर्याय हैं। यह लता मधुमास में खिलती है जिसके कारण इसे माधवी कहते हैं। यह प्राणियों में कामभाव को जगाती है। आश्रय ग्रहण करने के लिए यह ऊँचे वृक्षों का सहारा लेती है। यह लता अतिमुक्त सुगन्धित, हृदय के लिए लाभदायक, व शोभादायक होती है। यह लता श्वास, त्वचारोग, कुष्ठरोग में लाभकारी होती है।

अर्जुन

ककुभ, नदीसर्ज, इन्द्रद्रु, वीरवृक्ष, वीर और अर्जुन आदि नामों से यह विख्यात है। यह वृक्ष दीर्घकाय होता है। इस वृक्ष की छाल श्वेत और चिकनी होती है और बीच में कहीं हरे व लाल धब्बे पड़े होते हैं। पावसकाल में इसके पुष्प पीताभश्वेत रंग के खिलते हैं। इस वृक्ष के पत्ते लम्बे, गोल और अनीदार होते है। वाल्मीकीय रामायण में इस वृक्ष को उपमा का माध्यम बनाते हुए विरही राम कह उठे—

अथवा अर्जुन शंस त्वं प्रियां तामर्जुन प्रियाम्।
ककुभः ककुभोरुं तां व्यक्तिं जनाति मैथिलीम्

यह वृक्ष हृदय को हितकारी, कसैला, क्षत, क्षय, विष, रुधिर विकार, भेद प्रमेह, व्रण, कफ तथा पित्त को नष्ट करता है।

अशोक

रामायण में प्रसंगवश अनेक स्थानों पर अशोक वृक्ष का वर्णन आया है। यह वृक्ष सौन्दर्य की दृष्टि से तथा औषधीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसके असन, महासर्ज और प्रियक आदि नाम भी प्रचलित हैं। इसके पत्ते आम के पत्तों की तरह होते हैं, फूलों का रंग कुछ-कुछ सफेद और हल्का पीला होता है। चौमासे के आरम्भ में इसमें फल लगते हैं। इसके फल अखाद्य व किसी भी औषधि के काम नहीं आते हैं। केवल पत्तियाँ और छाल ही गुणकारी होते हैं।

इस वृक्ष की छाल कड़वाग्राही, वर्ण को उत्तम करने वाला, कसैला है तथा वातादि दोष, अपची, तृषा, दाह, कृमि, शोष, विष तथा रुधिर विकार को नष्ट करता है। इस वृक्ष के फूलों को पीसकर खूनी अतिसार में भी दिया जाता है। इसकी छाल का रस बहुत तेज और संकोचक होता है।

इंगुदी

इसका वृक्ष छोटा कांटेदार और गुल्म होता है। अंगारवृक्ष, तिक्तक, तापसद्रुम आदि इसके संस्कृत पर्याय हैं। इसकी पत्तियाँ द्विपत्तक तथा पत्तियों के पार्श्व में दृढ़स्थूल कष्टक होते हैं। बसन्त ऋतु में इसके पुष्प खिलते हैं और ये पीले रंग के सुगन्धित होते हैं। इंगुदी

की गुठली के अन्दर एक बीज होता है जिसमें तेल पाया जाता है। यह सुनहरे पीले रंग का और स्वादहीन होता है। आदिकवि वाल्मीकि ने इसके विषय में लिखा है—

बहुपुष्प प्रवाल वान्.....सुमहानिंगुदी वृक्षः[9]

अर्थात् फूलों और पत्तों से युक्त यह एक विशाल वृक्ष होता है। अपने वनवास काल में राम, लक्ष्मण, सीता ने एक रात गंगा तट पर इस वृक्ष के नीचे व्यतीत की थी।

''ते तु तस्मिन् महावृक्षे उषित्वारजनीं शुभम्:[10]

यह वृक्ष हिंगोट कफ, रक्ताभ, ग्रन्थि और व्रण का नाश करता है। इसका फल कड़वा, स्निग्ध, और गरम होता है।

शाल्मली—इसके वृक्ष अत्यन्त विशाल और ऊँचे होते हैं। इसके पर्याय मोचा, पिच्छिला, पूरणी, रक्तपुष्पा, स्थिरायु, तूलिनी आदि हैं। इसकी छाल कसैली और कफनाशक है। फूल शीतल, भारी, मलरोधक, रूखे हैं तथा ये कफ, पित्त व रुधिर के दोषों को दूर करते हैं।

शिरीष—इसके वृक्ष मध्यम कद से लेकर ऊँचे-पतझड़ करने वाले पर्णवाती वृक्ष होते हैं। इसकी शाखाएँ चारों ओर फैली हुई होती हैं। इसके भण्डिल, भण्डी, भण्डीर, शुकपुष्प, शुकतरु, मृदुपुष्प आदि संस्कृत पर्याय हैं। इसका रस तिक्त, वीर्य में उष्ण, वर्णकर, त्रिदोष का शमन करने वाला तथा लघु होता है। यह कुष्ठ, कण्डू, त्वचागत दोष, श्वास और कास का नाश करने वाला होता है।

सप्तपर्ण—कुटज कुल का यह वृक्ष चालीस फिट ऊँचा और निम्न भाग में मोटा होता है। इसकी छाल भूरे रंग की खुरदरी होती है। इसके पत्र चक्राकार गुल्मों में सात-सात होते हैं। इसी कारण इसे सप्तपर्ण या छितवन भी कहते हैं। इसके पुष्प हरिताभ श्वेतपर्णी शरदऋतु में आते हैं। इसकी फली शीतकाल में लगती है।

वाल्मीकि के अनुसार सप्तपर्ण के फूलों के कारण शरद ऋतु का रंग सांवला पड़ जाता है। (वा.रा) सप्तपर्ण अग्नि को दीपन करने वाला, स्निग्ध, गरम और व्रण, धात, वात, कोढ़ रुधिर विकार तथा जन्तु का नाश करता है।

त्रिदोषशमनो छृद्यः सुरभिर्दीपनः सरः।
शूलमुल्मकृमीन् कुष्ठं हन्ति शाल्मलि पत्रकः॥[11]

सरल—सरल/चीड़ का वृक्ष बहुत बड़ा होता है। इसके वृक्ष समूहबद्ध हिमालयीय प्रदेश में पाये जाते हैं तथा इसके प्रचलित नाम चीड़, चील और धूप सरल हैं। इसके वृक्ष साधे, सरल व पर्याप्त ऊँचे होते हैं।

यह वृक्ष मीठा, तीक्ष्ण, कड़वा, गरम, स्निग्ध और आंतों के कीड़ों को नष्ट करने वाला होता है। आँख, नाक, कान, गला, रक्त और चर्म की बीमारियों में यह लाभप्रद है। इसका गोंद पेट के अफारे को दूर करता है तथा योनि गर्भाशय की तकलीफों में यह लाभदायक है और खुजली प्रदाह तथा सिर दर्द को भी दूर करता है।

''स्निग्धोष्णः कर्णकष्ठाक्षिरोगक्षो हर स्मृतः।''[12]

चीड़ की लकड़ी का उपयोग पेटियाँ, दियासलाई, खेल का सामान, संगीत के सामान आदि बनाने के काम में किया जाता है।

खजूर—खजूर, पिण्डखजूर और छुआरे के वृक्ष सीधे और लम्बे होते हैं। इसके पत्ते और शाखाएँ दोनों लम्बी होती हैं। वृक्ष पर शरीफे के सामन वल्कल जमा रहता है और ऊपर की शाखाओं में फल उगते हैं।

तीनों प्रकार के खजूर शीतल, रस तथा पाक में मधुर, स्निग्ध, भारी, तृप्तिदायक, वीर्यवर्द्धक, हृदय को प्रिय तथा बलदायक होते हैं।

क्षय, क्षत, रक्त, पित्त, वमन, कफ, ज्वर, अतिसार, भूख, तृषा, खासी श्वास, मद, मूर्च्छा आदि रोगों को यह नष्ट करता है।

पनस—कटहल पनस एक सदा हरित वृक्ष है जो लगभग तीस-चालीस मीटर ऊँचा होता है। इसके कंटकिफल कटहल, मुरजफल, अपुष्प, चम्पालु, मृदंगफल, मूलफलद, पूतफल आदि संस्कृत पर्याय हैं। इस वृक्ष के पत्ते गोल-गोल ऊपर से चिकने और खुरदरे होते हैं। इसमें फूल आते ही नहीं। इसका फल बहुत बड़ा होता है। इसकी लकड़ी के भूरे को औटने से पीला रंग निकलता है।

इसका कच्चा फल ग्राही, कसैला, त्रिदोषकारी, बलवर्द्धक और भारी होता है। इसका पका फल शीतल स्निग्ध, कामोद्दीपक वात, कुष्ठ व व्रण में उपयोगी है। इसके बीज मीठे, मूत्रल व कामोद्दीपक होते हैं।

शमी—इसके वृक्ष मध्याकार तथा कंटकित होते हैं। इसको छोकर भी कहते हैं। यह एक ऐसा वृक्ष जिससे यज्ञ के लिए अरणी बनती है। सक्तुफला, तुङ्गा, शिवा, मंगल्या, लक्ष्मी आदि इसके पर्याय हैं।

शमी कड़वा, चरपरा, शीतल, रोचक, हल्का तथा कफ, खाँसी, भ्रम, श्वास, कोढ़, बवासीर और कृमि को दूर करता है। इसका फल पित्तजनक, रूखा, बुद्धिवर्धक और केशों को नष्ट करने वाला होता है। 'सातवलेकर' के अनुसार यदि शमी के वृक्ष पर उगे पीपल वृक्ष के पञ्चाङ्ग का चूर्ण करके मधु या दूध के साथ सेवन करने से स्त्री का गर्भाशय पुंगर्भ में समर्थ होता है—

शमीमश्वत्थ आरूढ़स्तत्र पुंसवनं कृतम्।
तद वै पुत्रस्य वेदनं तत स्त्रीष्वा भरामसि॥[13]

साल—यह एक विशाल वृक्ष है। इसके पत्ते सरल, अण्डाकार, आयताकार होते हैं। इसके पुष्प गुच्छों में लगने वाले तथा पीले रंग के होते हैं। इसके बीज पाँच पंखों वाले होते हैं। यह वृक्ष सीधा तथा अल्पछाया वाला होता है। संस्कृत में इसके शाल निर्यास, सर्जरस तथ यक्ष धूप पर्याय प्रचलित हैं।

यह वृक्ष कसैला, व्रण, पसीना, कफ, कृमि, ब्रह्म, विद्रधि बहरापन, योनिरोग और कर्णरोग को नष्ट करता है।

मल्लिका—पुष्प वर्ग का यह वृक्ष बहुवर्षायु झाड़ी में परिणत हो जाता है। दमयन्ती, शीतभीरु, भूपदी, प्रिया, सौम्या, तृणशून्य, नारीष्टा आदि इसके संस्कृत पर्याय प्रचिलत हैं।

यह सुगन्धित मधुर, बाजीकरण, पित्तनाशक व्रणनाशक, गर्था, श्योत्तेजक गुणों वाली औषधि है। मुखगत व्रण में, नेत्ररोग, अनत्तिवजन में इसके पत्तों और पुष्पों की पत्तियों को पीसकर लेप करना लाभकारी होता है।

लकुच—वट कुल के इस वृक्ष की छाल खुरदरी, फटी हुई सी, काले या धूसर रंग की होती है। इसकी शाखाएँ छोटी-छोटी, कोमल तथा रोमश होती हैं। इसके पत्ते गोलाकार और तीखी नोंक वाले होते हैं। इसके फूल पीतवर्ण के और गोलाकार होते हैं। बसन्तु ऋतु में ये खिलते हैं। इसके फल गाँठदार, ऊपर से उभरे तथा भीतर कटहल जैसे रेशों और बीजों से युक्त होते हैं।

इसका कच्चाफल गरम, भारी कब्ज करने वाला, खट्टा, रुधिर दोष नष्ट करने वाला होता है तथा इसका पक्काफल मधुर, अम्ल, वातनाशक पित्तनाशक, कफ तथा अग्नि को हरने वाला होता है।

लोध्र—सदा हरा-भरा रहने वाला लोध्र के वृक्ष अत्यधिक ऊँचे-ऊँचे होते हैं। इसका तना सीधा और गोल होता है, इसकी छाल भूरे रंग की होती है। पत्ते तीखे, कंगूरेदार होते हैं। फूल पीताभ श्वेत रंग के होते हैं। इसके फूलों की महक बहुत दूर तक हवा में सुगन्ध बिखेर देती है। महाभारत में लोध्रवन कामियों के लिए अत्यन्त प्रिय बताये गये हैं—

''**लोध्रैः कामीजनप्रियैः**'' *(महाभारत)*

यह ग्राही, हल्का, शीतल, नेत्रों को हितकारी, कफ, पित्त, रक्तपित्त, ज्वर, अतिसार को हरने वाला होता है।

''**ज्वरातीसार शोथहृत**''[14]

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि रामायण में प्रतिपादित कुछ वृक्षों का आयुर्वेदिक दृष्टि अत्यधिक महत्त्व आज भी है। जिनका उपयोग कर हम अपनी काया को निरोग कर सकते हैं।

रामायण काल में वृक्षों की बहुमुखी भूमिका थी। मानव जीवन के हर प्रसंग में वे प्रतीकात्मक रूप से उपस्थित रहते थे। वृक्षों में भी चेतना का वही स्पन्दन विद्यमान होता है जो संसार के अन्य प्राणियों में पाया जाता है।

हमारे प्राचीन तत्त्वदृष्टा ऋषियों ने वृक्षों में चेतनता स्वीकार करते हुए तमोगुण की अधिकता स्वीकारी है।

'मनु' वृक्षयोनि में चेतनता स्वीकार करते हुए कहते हैं कि वृक्ष भी अन्य प्राणियों की तरह-सुख-दुःख का अनुभव करते हैं—

तमसा बहुरन्पेण देष्टिता कर्म हेतुना।
अन्तः संज्ञा भवन्त्येते सुख-दुःख समन्तिता॥[15]

ऋषि भृगु ने तो यहाँ तक सिद्ध किया है कि वृक्ष अन्य प्राणियों की तरह ही सुनते हैं, देखते हैं, महसूस करते हैं। यहाँ तक की कटु, तिक्त स्वाद को भी चखते हैं। इस सन्दर्भ में रामायण का वह प्रसंग अति महत्त्वपूर्ण है। जब राम के राज्योत्सव के समय नर-नारियों की उमंग एवं उत्साह के समान ही वृक्षों में भी हर्षोल्लास छा जाता है।

''भूमिः सस्यवती चैव फलवन्तश्च पादपाः''[16]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सहृदय वाल्मीकि पशु-पक्षियों से तो प्रेम करते ही थे वन और वृक्षों के प्रति भी उनका लगाव कम नहीं था। रामायण में औषधि वनस्पतियों की द्योतक हैं और ये वनस्पतियाँ आयुर्वेदिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। वनों और पर्वतों में पाई जाने वाली नाना औषधियाँ रोगों के शमन हेतु प्रयोग में लाई जाती हैं।

आयुर्वेद एक निर्दोष चिकित्सा पद्धति है। इस चिकित्सा पद्धति से रोगों का पूर्ण उन्मूलन होता है और इसका कोई औषध दुष्प्रभाव नहीं है।

आयुर्वेद जहाँ अन्तरात्मा में बैठकर समाधि दशा में खोजी हुई स्वास्थ्य की कुञ्जी है। वही एलोपैथ में रोग की खोज के विकसित साधन तो उपलब्ध हैं लेकिन दवाओं की प्रतिक्रिया बहुत है। परन्तु रामायणयुगीन चिकित्सा पद्धति का लक्ष्य यही था मनुष्य को रोगादि से मुक्त कर जीवनदान देना। उस समय निश्चित आयु से पूर्व किसी की मृत्यु नहीं होती थी। रामायणयुगीन वृक्ष औषधीय दृष्टि में अति महत्त्वपूर्ण है। दानशील वृक्ष प्राणियों का हर प्रकार से उपकार करते हैं। जीवनोपयोगी पदार्थों को सुलभ कराते हैं और पर्यावरण सन्तुलन का महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं।

महर्षि वेदव्यास वृक्ष की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि

सुखदुःखयोश्च ग्रहणाच्छिन्नस्य च विरोपणात्
जीवं पश्याभि वृक्षाणाभचैतन्यं न विद्यते॥

वाल्मीकि जी कहते हैं कि वृक्ष हमारे जीवन के अभिन्न अंग हैं और इनके बिना पृथ्वी की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। वृक्ष की सारी भूमिकाएँ समस्त प्राणियों के लिए उपखण्ड है। यदि देखा जाए तो वृक्ष मानव के उत्कर्ष और अपकर्ष की कहानी में संवेदना और सहयोग के उपहार लिए सदा खड़ा है। औषधीय दृष्टि से समस्त वृक्ष पूर्व काल की भाँति आज भी समाज के लिए उपादेय हैं।

इस प्रकार वृक्ष की उपादेयता, महत्ता एवं औषधीय गुणों को जानने के उपरान्त हम आज इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जो वृक्ष हमारे जीवन के सबसे बड़े सहयोगी और परोपकारी हैं उनकी सदा रक्षा करनी चाहिए किन्तु आज का मानव उसके लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हो रहा है। आज के मानव में वृक्षों के प्रति वो आत्मीयता नहीं है वे निरन्तर उसका दोहन कर रहे हैं, उन्हें काट रहे हैं। उनके इस व्यवहार को देखकर खुद वृक्ष उन्हें समझाने का प्रयास करता हुआ कहता है—

भवतः कामनापूर्तिं कर्तुं जातोऽस्मि भूतले।
पालय रक्ष मां नित्यं कर्तनं मम मा कुक॥[17]

अर्थात् हे नर! तुम्हारी कामनाओं की पूर्ति के लिए धरती पर हमारा जन्म हुआ है। इसलिए आप हमारा पालन-पोषण करो, हमारी रक्षा करो, हमें काटो मत।

वृक्ष कहते हैं कि हमारे न रहने पर पृथ्वी पर प्राणदायक पवन देने वाला भी कोई न बचेगा और वृक्षों के अभाव से ही बादल भी न बरसेंगे जिससे जलाभाव के कारण प्रदूषण फैलेगा।

इससे स्पष्ट है कि शुद्ध जल, शुद्ध वायु एवं शुद्ध खाद्यान्न के अभाव में सर्वत्र हाहाकार मचेगा। अतः हमें पर्यावरण की रक्षा करनी चाहिए।

आदानं च प्रदानं च प्रकृतेः परिरक्षणम्।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. वा. रा. -6-74-31
2. वा. रा. -6 74-33
3. वा. रा. 4- 48-24
4. वा. रा.
5. वृहन्निघण्टु रत्नाकर पृ. (171)
6. ,, ,, पृ. 172
7. वा. रा. - 2-76-16
8. धनवन्तरि निघण्टु-141 झारखण्डे ओझा एवं डॉ. उमापति मिश्रा।
9. वा.रा. - 2-50-28
10. वा.रा. - 2-54-1
11. धनवन्तरि निघण्टु, डॉ. झारखण्डे ओझा पृ. 141
12. वृ. नि. र.
13. अथर्ववेद- 6-11-1
14. वृहन्निघण्टु रत्नाकर, गणेश शर्मा पृ. 72
15. मनुस्मृति - 49
16. वा. रा. - 6-128-72
17. पर्यावरण काव्यम्, डॉ. अशोक कुमार शुक्ल पृ. 12

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUNE, 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

मुगल चित्रकला में प्राकृतिक एवं वन्य प्राणियों का दिग्दर्शन एक अध्ययन

❒ डॉ. कुंती साहू
❒ डॉ. पूनम मिश्रा

शोध सारांश

मुगल शैली का कई दृष्टियों से भारतीय चित्रकला में महत्वपूर्ण स्थान है। एक ओर जहाँ मुगल दरबारों में चित्रकारों को विशेष प्रात्साहन चित्रकारिता के क्षेत्र में दिया जा रहा था और ये चित्रकार बखूबी से व्यक्ति चित्रण के साथ–साथ छवि चित्रण और प्रकृति चित्रण कर रहे थे, वहीं दूसरी ओर तत्कालीन प्रचलित शैलियों में गृहीत कला तत्वों को आत्मसात् कर रहे थे और उनमें तादात्म्य स्थापित कर अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये हुए थे। काव्य कला मनुष्य की सुख–दुख की अभिव्यक्ति का साधन रही है, विभिन्न साधकों ने अपनी–अपनी प्रकृति भिन्न–भिन्न रूपों में चित्रित किया है। मध्यकालीन वस्तुओं का अनुभव कर उसकी छवि को अंकित किया वहीं उसके आस–पास के परिवेश को भी अपने अंकन का माध्यम बनाया प्रकृति चित्रण की मान्यताओं के क्रमानुसार यथा सजीव परिवर्तन होते रहे हैं। यह मान्यताएँ कहीं दैवीय शक्ति की मान्यता को लेकर चली है तो कभी–कभी इन्हें मात्र सौन्दर्य की वस्तु मानी गई है।

मुगल चित्रों का विधान

मुगल चित्र भित्तियों पर या सूती कपड़े या कागज पर बनाये गये हैं और अधिकांश लघु चित्र है। उनका विधान अपनी एक विशेषता है। अधिकांश मुगल चित्रों को कागज पर ही बनाया गया है। चित्रकार ने तीन या चार कागजों को सटाकर और चिपकाकर एक मोटा कागज तैयार करके उन पर गेरू के रंग से या कल्पाई रंग से बूत बांधकर चित्र की सीमा रेखा को बनाया है। उस पहली रेखा को जिसे टिपाई कहते थे। के पश्चात पारदर्शी सफेद रंग दो यातीन बार पोत दिया जाता था। जिसके ऊपर पुनः रेखांकन करते थे जिसे सच्ची टिपाई कहते थे। फिर से चित्र में सपाट रंग दो या तीन बार भर दिए जाते थे।

* ग्राम-सकोला, पोस्ट-बदरा, जिला-अनूपपुर (म.प्र.)-484334
** प्राध्यापक (इतिहास), शास. ठाकुर रणमत सिंह स्वशासी महाविद्यालय, रीवा (म.प्र.)

जिसे रंगमेणी कहते थे। इसके बाद चित्र को एक चिकनी शिला पर कागज के ऊपर उलटाकर पीठ की तरफ ऊपर से छोटा जाता था। जिससे ओस आ जाता था साथ–साथ जहाँ जिस रंग की कमी मालूम पड़ती उसको फिर से लगा दिया जाता था। इसे गदकारी कहा जाता था। इस प्रकार घोटने से रंग दबकर मीनाकरी के समान प्रतीत होने लगते थे। तब पुनः अंत में सीमारेखा के अंकन आकृति और चित्र के प्रत्येक भाग पर काम करते थे। इसे खुदाई कहते थे। इस समय जहाँ पर छाया या किसी रंग को लगाने की आवश्यकता होती तो उसे लगा देते थे।[7]

हाशिये–

मुगल चित्र के हाशिये भी एक कुशल कलाकार के द्वारा भी बनाए जाते थे जो कारीगरी के उत्तम उदाहरण हैं। इन हाशियों में बेल, बूटों के अतिरिक्त आखेट स्थल या चित्र के प्रसंग से मेल खाते पशु, पक्षी, पुष्प या मानवकृतियों पर आधारित आलेखन बनाये जाते थे।

मुगल चित्रों के रंग–

मुगल चित्रकार के रंग नीने समसन चमकदार साफ तथा स्थायी है। कलाकर इन रंगों को अत्य सामग्री के समान ही अपनी देख–रेख में सर्तकता से तैयार कराते थे। मुगल चित्रों में प्रयुक्त रंग तीन वर्णों में रखे जा सकते हैं जो इस प्रकार है –

1. वानस्पतिक
2. रासायनिक तथा
3. खनिज

इन रंगों में वानस्पतिक रंगों को काला काजल, महावर का रंग नीला, पीला है। रासायनिक रंगों में सफेद, लाल, सिन्दूर तथा हिंगुल, पीला प्यौड़ी आदि है। खनिज रंगों ने लाल– हिरौंजी तथा गेरू, नीला, लेपिसिला जुली, पोला चमकदार हरतल, पीला गंदा, रामरज, हल्का पील मटमैला, मुल्तानी मिट्टी, सफेद खड़िया, हरा जंगल या संग सब्ज आदि है। इन रंगों के सम्मिश्रण से बने बैंगनी गहरे चमकदार हरे आदि रंग हैं। इन रंगों के अतिरिक्त शंख की भस्म, अभ्रक एवं सफेद पत्थर को घिसकर बनाए गए महीन चूर्ण तथा सोने चांदी के तर्क से बने रंग का प्रयोग विशेष है। मुगल चित्रों में संगत तथा शीतल जैसे गुलाबी, हरे, फाखताई हल्के नीले धुआयेले तथा सफेद रंगों का प्रयोग अधिक है। इन रंगों के अतिरिक्त सोने तथा चांदी की हिलकारी बनाकर इनके रंग बन गए हैं। रात्रि अथवा वर्ष का वातावरण दर्शाने के लिए प्रत्येक रंग में काला रंग मिला दिया जाता था। ऐसे रंग को बुता रंग कहते थे। चमकदार रंगों को चुहचुहा रंग कहा जाता था।

रेखांकन विधि–

चित्रों की सीमा रेखा को प्रायः चरबे से बनाया गया है। ये चरबे हिरन की खाल पर बारीक छेद करके बनाये जाते थे और इन छेदों पर आक के पौधों को जलकार बनायी गयी बारीक राख की पोटली को फिरा दिया जाता था। जिससे चित्र की सीमा रेखा नीचे बन जाती थी। इस प्रकार के अनेक चरबे प्राप्त हैं।

रात्रि के दृश्य–

मुगल चित्रकार ने चाँदनी रात या दो प्रकार के प्रकाशों को दिखाने में कमाल कर दिया है। ऐसे चित्रों में कागज पर सबसे पहले चांदी का अस्तर या पृष्ठिका लगा दी जाती थी। जिससे चांदी या पानी का प्रभाव दिखाई पड़ने लगता था। कभी–कभी रात्रि में मशालों को सोने के रंग से बताकर चाँदी के प्रकाश को चाँदी के रंग से भी दिखाया गया है। इस प्रकार के प्रकाश दिखाये गए हैं।

मुगल चित्रों की रेखा–

मुगल चित्रों की रेखाएँ साफ, महीन और लिपि की रेखाओं के समान हैं। रेखाओं में शक्ति और गति होने के कारण मुगल चित्र निखर उठे हैं। सीमा रेखाओं के किनारों पर आवश्यक स्थानों पर डाल या गोलाई लाने के लिए सुकोमल छाया का प्रयोग किया गया है। मुगल रेखाओं में चरित्र चित्रण की अपूर्व शक्ति है।

छाया या परदाज–

मुगल चित्रों में सादृश्य और यथार्थता लाने के लिए आकृतियों में किया गया है। जिससे गहराई और प्रकाश का उठा हुआ भाग चित्र में स्पष्ट दिखायी पड़ने लगता है।[9]

मुगलचित्रों का संयोजन–

मुगल चित्रों की योजनाएँ सरल तथा चित्ताकर्षक है। अधिकांश चित्रों में लम्बवत् या क्षैतिज योजनाओं का प्रयोग है। व्यक्ति चित्रों में प्रायः चित्रभुजाकार उदग्र लम्बवत् योजनाएँ ली गई है। चित्रों के लिये तीनों भाग अर्थात पृष्ठभूमि, मध्यभूमि और मुख्याभूमि या अग्रभूमि को अत्यधिक कुशलता और परिश्रम से बनाया गया है।

भवन –

मुगल चित्रों में भवन का अत्यधिक प्रयोग किया गया है। ये भवन सफेद संगमरमर के हैं। या चुने से पुते बताए गए हैं। दुर्गों के चित्रों में विशाल द्वार, परकोटे तथा कंगूरे और बुर्जियों जो मुगल दुर्गों की विशेषताएँ यथोचित रूप से दर्शाया गया है।

परिप्रेक्ष्य तथा स्थितिजन्य–लघुता

मुगलशैली के चित्रों को देखने से स्पष्ट, दिखाई पड़ता है। कि चित्रकार को दार्शनिक का पूर्ण ज्ञान था परंतु फिर भी कहीं–कहीं पर परिप्रेक्ष्य के नियमों का पालन इसलिए नहीं किया गया है कि आलेखन का प्रवाह न टूट जाए आलेखन का प्रभाव समाप्त न जो जाए इस प्रकार अलंकरण और आलेखन को परिप्रेक्ष्य की तुलना में अधिक महत्व दिया गया है।

आलेखन–

मुगल कलाकारों ने हाशिये में नहीं बल्कि फर्श, कालीन, परदों, छतों, स्तम्भों, दीवारों तथा वस्त्रों आदि के चित्रण में भी आवश्यकतानुसार आलेखनों का प्रयोग किया है। भवन संबंधी आलेखन प्रायः ज्यामितिक है। परन्तु अन्य स्थानों पर पुष्प और पत्तों आदि से सुन्दर बेलें तथा बूटियाँ बनायी गई है। कपड़ों पर में आलेखन प्रायः सुनहरे रंग से बनाए गए हैं।

वस्त्र तथा आभूषण–

मुगल चित्रों में प्रायः जामा, चुस्त पाजामा, कमर में पटका और पगड़ी पुरूषों का पहनावा है। ये जामें बहुत कुछ राजपूत बाने का परिष्कृत रूप है। स्त्रियों के पहनावे में झीना आंचल, कुर्ता या चोली आस्तीनदार, पायजामा तथा लहंगा सामान्यतः प्रयोग किया गया है। पैरों में नोकदार जूतियाँ, बनायी गई है। मुगल चित्रों में बादशाहों, योद्धाओं, सामान्य व्यक्तियों आदि के जूते भिन्न–भिन्न प्रकार के हैं। जिनसे उनकी पहचानता सरल हो जाता है। बादशाहों की पगड़ियों ने कीमती मोतियों की मालाएँ बनायी गई है। मालाओं के अतिरिक्त मुतराजों के कानों में प्रायः कुंडल भी बनाए गए हैं। स्त्रियों के आभूषण भी बनाए गए हैं। स्त्रियों के आभूषणों की मालाएँ बंदी बाजूबंद, दस्तबंद, कड़े, झुमके, झूमड़ तथा पेटियाँ बनायी गई है।

हस्त–मुद्राएँ और अंग भंगिमाएँ

मुगल चित्रों में यथार्थता का अधिक समावेश है। इसी कारण अधिकांश हस्तमुद्राएं तथा अंग–भंगिमाएँ स्वाभाविक और यथार्थ है। हस्तमुद्राओं में

सजीवता और भावव्यक्ति की क्षमता है। हस्त मुद्राओं तथा अंग–भंगिमाओं से चित्रकार ने चित्र की योजनाओं में एक नाटकीयता उत्पन्न कर दी है। मुगल व्यक्ति–चित्रों में आकृति अधिकांश खड़ी मुद्रा में बनायी गई है। सामान्यता खड़ी, बैठी, झुकी सलाम या मुजरा आदि करती अनेक प्रकार की अंग भंगिमाओं में मानवकृतियों तथा पैरों आदि की बनावट सुंदर और सजीव है।[10]

1. डॉ. शहला हसन – मुगलकालीन दृश्यकला पृ. 101

2. बाबरनामा, अनुवाद ए0एस0 बेवरिज, दिल्ली 1922

3. जे.पी. लोस्टी, द आर्ठ ऑफ द बुक इन इण्डिया, लंदन 1982 पृ. 74

उपसंहार –

मुगल शासकों ने चित्रकला को प्रोत्साहन दिया जिससे भारत चित्रकला का अभूतपूर्व विकास हुआ। इसमें चित्रकला की कई शैलियों का मिश्रण है तथा इन सबके साथ यह भारतीय चित्रकला का विस्तृत काल भी है। इससे पहले भारत में चित्रकला को इतना विस्तृत हम नहीं पाते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

(क) आधार ग्रंथ –

1. राष्ट्रीय संग्रहायलय, नई दिल्ली में प्राप्त मुगल चित्र।

2. जहाँगीर आर्ट गैलरी में प्राप्त मुगल चित्र।

3. राष्ट्रीय संग्रहालय, कोलकाता में प्राप्त मुगल चित्र।

4. प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय, मुम्बई में प्राप्त मुगल चित्र।

5. यत्र–तत्र प्राप्त मुगल चित्रों के अलवम (मुखका) चित्र।

(ख) सहायक ग्रंथ –

1. आर. ए. अग्रवाल : कला विलास (भारतीय चित्रकला का विकास), मेरठ 1974
2. गिरिराज किशोर अग्रवाल : कला और कलम (भारतीय चित्रकला का आलोचनात्मक इतिहास), अलीगढ़, 1999
3. राधाकमल मुखर्जी : भारतीय चित्रकला का विकास, 1953
4. डॉ. रीता प्रताप : भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2004
5. वाचस्पति गौरेला : भारतीय चित्रकला, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1963
6. सोमप्रकाश वर्मा : मुगल चित्र शैली, पंचशील प्रकाशन, जयपुर
7. सी. शिवमूर्ति : भारतीय चित्रकला, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, दिल्ली, 2011
8. डॉ. शहला हसन : मुगल कालीन दृश्यकला, प्रिया प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010–11
9. Percy Brown : Indian Painting under the Mughals Oxford, 1924

(ग) शोध पत्रिकाएँ –

1. इतिहास – रीवा
2. शोध साधना
3. शोध समवेत – उज्जैन
4. संधान – झाँसी
5. Gournal of Royal Society of Arts
6. Marg
7. Gournal of Indian History

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUNE, 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

ग्वालियर पर्यटक स्थल का एक विवरण

❒ बबीता बाथम

शोध सारांश

ग्वालियर के ये पर्यटक स्थलों से इतिहास की जानकारियाँ प्राप्त होती हैं। जिसके कारण ये लोगों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। अतः हर साल कई पर्यटक इन सबको देखने दूसरे शहर व विदेशों से आते हैं, जिससे उन्हें यहाँ के इतिहास की भी जानकारी प्राप्त होती है और कई विदेशी इनकी जानकारियों पर किताब भी लिख चुके हैं, जिससे ग्वालियर का नाम यहाँ ही नहीं विदेशों में भी जाना जाता है।

बादलगढ़ द्वार

विशुद्ध राजपूत शैली में निर्मित इस विशाल द्वार का निर्माण 15वीं सदी में तोमर वंश के शासकों द्वारा किया गया था। इस विशाल द्वार की ऊँचाई 20 फीट है। जिसमें से हाथी पर बैठ कर आसानी से प्रवेश किया जा सकता है। इस द्वार के दोनों ओर लगभग 50 फीट ऊँचाई वाली गोल मीनारें बनी हुई हैं। इन मीनारों के शीर्ष भाग पर अष्टकोणीय स्तम्भों पर आधारित गुम्मद युक्त छतारियाँ बनाई गई हैं। यह सम्पूर्ण निर्माण तराशे हुये सफेद बलुए प्रस्तर खंडों से किया गया है। द्वार सहित इसके दोनों ओर निर्मित निर्माण को विभिन्न प्रकार की आकृतियों से सजाया गया है। ऐसा आभास होता है, कि इस सम्पूर्ण द्वार को कभी रंग–बिरंगे मीने के रंगों से सजाया गया होगा। इन पर बने हंसों की पंत्तियों को मीने के कार्य से सजाया गया है होगा। इसके दोनों गुम्बदों को भी नीले फिरोजी रंग की टाइलों से ढका गया था। यह निर्माण कार्य सुदृढ़ सामरिक निर्माण की में कोमल सौंदर्य का बोध कराता है।

सूर्य मंदिर

कोणार्क के जगत प्रसिद्ध सूर्य मंदिर की शैली पर इस विशाल सूर्य मंदिर का निर्माण बसंत कुमार बिरला ने अपने पिता धनश्यामदास बिरला की पुण्यस्मृति में सन् 1988 में करवाया था। लाल गुलाबी प्रस्तर खंडों से निर्मित यह अत्यंत सुंदर व दर्शनीय स्थल है। इस मंदिर के चारों ओर छायादार वृक्ष व हरीघास के मैदान हैं। मंदिर के गर्भगृह में सूर्य के 'विवस्वान' रूप की प्रतिमा स्थापित की गई

* शोधार्थी (राजनीति विज्ञान), जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर, मो. 9907004686, म.न. 7, काल्पीब्रिज कॉलोनी, गोला का मंदिर, ग्वालियर (म.प्र.)-474006

है। सूर्य मंदिर की बाहरी दीवारों पर बारह आदित्यों, सप्तमातृकाओं, नवदुर्गा, राधाकृष्ण, शिवपार्वती, गणेश सहित विभिन्न मुनियों एवं अन्य प्रतिमायें बनी हैं। मंदिर आठ विशाल रथ के पहियों पर आधारित बनाया गया प्रतीत होता है।

मोहम्मद गौस का मकबरा

मुगल बादशाह अकबर के शासनकाल में इस भव्य स्मारक का निर्माण मोहम्मद गौस नामक फकीर की स्मृति में सन् 1606 ई. में करवाया गया था।

तानसेन की समाधी

भारत के महान संगीतकार एवं गायक तानसेन की स्मृति में इस सादगीपूर्ण स्मारक का निर्माण 16वीं सदी में करवाया गया था। तानसेन का जन्म ग्वालियर के पास बेहट ग्राम में हुआ था। इनका बचपन का नाम तन्नू मिश्र (त्रिलोचन) था। ये अकबर के नवरत्नों में से एक थे, इन्हें अकबर ने ही तानसेन की उपाधि से विभूषित किया था। अपने जीवन के उत्तर काल में तानसेन ने मोहम्मद गौस को अपना आध्यात्मिक गुरू स्वीकार कर लिया था, यही कारण है कि उनकी मृत्यु के उपरांत उनका स्मारक मोहम्मद गौस के आस्ताने में बनाया गया था। पिछले 100 वर्षों से यहाँ पर वर्ष में एक बार यहाँ पर अखिल भारतीय स्तर का संगीत समारोह आयोजित किया जाता है व उनके नाम से एक पुरस्कार भी प्रदान किया जाता है।

जय विलास महल

यह सिंधिया राजपरिवार का वर्तमान स्थल ही नहीं एक भव्य संग्रहालय भी है। इस महल के 35 कमरों को संग्रहालय बना दिया गया है। इस महल का ज्यादातर हिस्सा इटेलियन स्थापत्य से प्रभावित है। इस महल का प्रसिद्ध दरबार हॉल इस महल के भव्य अतीत का गवाह है, यहाँ लगे हुये दो फानूसों का भार दो–दो टन का है, कहते हैं इन्हें तब टांगा गया जब 55 हाथियों को छत पर चढ़ाकर छत की मजबूती मापी गई। इस संग्रहालय के एक ओर प्रसिद्ध चीज है, चांदी की रेल जिसकी पटरियाँ डाइनिंग टेबल पर लगी है और विशिष्ट दावतों में यह रेल पेय परोसती चलती है और इटली, फ्रान्स, चीन तथा अन्य कई देशों की दुर्लभ कलाकृतियाँ यहाँ हैं।

सास–बहु मंदिर

इन विशाल देवालयों का निर्माण ग्वालियर के शासक महीपाल कछवाहा द्वारा 1093 ई. में पूर्ण करवाया गया था।

मानमंदिर–

ग्वालियर दुर्ग पर सार्वाधिक महत्व का भवन मानमंदिर है। इसका निर्माण तोमर वंश के महान शासक मानसिंह (1486–1512 ई.) निज आवास हेतु करवाया गया था।

गूजरी महल–

बादलगढ़ द्वार से प्रवेश करने के उपरांत दायी ओर एक विशाल द्वारा वाला कोट बना हुआ है। इसके द्वार में प्रवेश करने पर कुछ आगे चल ऊँचाई पर एक विशाल 300X200 फीट आकार का तीन मंजिला महल बना हुआ है। जिसका निर्माण सन् 1512 ई. के लगभग तोमर शासक मानसिंह द्वारा अपनी प्रेयसी गुजरी रानी मृगनयनी के आवास हेतु करवाया था। भवन के मध्य एक विशाल खुला आहाता है, जिसके चारों ओर विभिन्न आकार–प्रकार के कक्ष बने हुये हैं। इनमें से कुछ कक्षों की छत झोपड़ी के आकार की बनी है, ताकि मृगनयनी को अपने गांव के आवास का आभास होता रहे। दक्षिण

दिशा के सभी कक्ष विशिष्ठ स्थापत्य शैली के हैं, अतः ऐसा प्रतीत होता है, कि संभवत ये कक्ष राज परिवार के प्रयोग में लाये जाते होंगे व शेष अन्य परिचारिकाओं हेतु रहे होंगे।

संदर्भ ग्रंथ

1. गुजरी महल, पुरातत्व विभाग से जानकारी के आधार पर।
2. जयविलास पैलेस, स्थित म्यूजियम से प्रदाय जानकारी के आधार पर।
3. ग्वालियर दुर्ग का इतिहास (प्रदीप के. श्रीवास्तव)।
4. ग्वालियर गौरव (डॉ. करकरे ईश्वरचन्द्र)।
5. ग्वालियर इतिहास, संस्कृति एवं पर्यटन (डॉ. एच.बी. माहेश्वरी 'जैसल')।

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUNE, 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक के संगठन का विश्लेषण

❒ सोनाली पाण्डेय

शोध सारांश

मैंने अपने शोध पत्र में भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक के संगठन का विश्लेषण किया है, जिसमें यह स्पष्ट किया गया है कि, मनुष्य कोई भी कार्य बिना संगठन के नहीं कर सकता है। मनुष्य के लक्ष्यों की प्राप्ति का आधार संगठन ही माना गया है किसी भी संस्थान को भावी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये संगठन की स्थापना करनी होती है।

औद्योगिक नीतियों में समयानुकूल परिवर्तन के कारण ही यह सम्भव हो सका कि, देश में नई क्षमताओं का सृजन हुआ है। विगत 65 वर्षों में औद्योगिक विकास की एक प्रमुख विशेषता यह रही है कि, प्रारंभ में जहाँ केवल सरकारी क्षेत्र को संरक्षण प्राप्त हुआ वहा बाद में निजी क्षेत्र को बढ़ावा देकर उसे सुरक्षा प्रदान की गई। भारतीय उद्योगों का अत्यंत महत्वपूर्ण क्षेत्र लघु उद्योग है। लघु उद्योग, उत्पादन, निर्यात और निर्माण में अत्यंत प्रभावी भूमिका निभा रहे हैं। अनेक निर्माण के लिये आरक्षित कर दिया गया है एवं यह अनिवार्य कर दिया गया है कि बड़े उद्योग अपनी जरूरत का सामान लघु उद्योगों से ही खरीदें। लघु उद्योगों को अक्सर बैंकों और वित्तीय संस्थाओं से ऋण मिलने में कठिनाई होती थी। इसी कठिनाई को दूर करने के लिये बैंक ऋण का एक भाग लघु उद्योग क्षेत्र के लिये आरक्षित कर दिया गया है।

भारतीय इतिहास पर दृष्टि डालने सें यह स्पष्ट होता है कि, भारत औद्योगिक क्षेत्र में विश्व का अग्रणी राष्ट्र था। देश के लघु उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुयें विक्रय के लिये विदेश भेजी जाती थीं। यूरोपीय उद्योग भी विकसित होकर भारत में उन्होंने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। जिससे देश में लघु उद्योगों का पतन होने से अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

देश के औद्योगिक विकास का महत्वपूर्ण दायित्व कृषि एवं लघु उद्योगों पर निर्भर करता है। भारतीय

* शोधार्थी (वाणिज्य), जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर, मो. 8871071954, सुदर्शन विहार कॉलोनी, गुडी-गुडा का नाका, कम्पू, लश्कर, ग्वालियर (म.प्र.)

अर्थव्यवस्था की दशाओं को ध्यान में रखते हुये औद्योगिक क्रांति को लघु उद्योगों को विकसित करके ही प्राप्त किया जा सकता है, लघु उद्योगों के माध्यम से रोजगार सृजन, वस्तुओं के समान विवरण, पूंजी की गतिशीलता, उद्यमियों की दक्षता एवं क्षेत्रीय असंतुलन को समाप्त करने में सहायता प्राप्त हो सकती है।

संगठन सम्पूर्ण प्रबंध के संचालन का केन्द्र–बिन्दु है, जिसके द्वारा मानवीय प्रयासों को समन्वित करके उन्हें सहक्रियाशील बनाया जाता है। संगठन कार्यों, साधनों व संबंधों की औपचारिक अवस्था है, जिसके माध्यम से प्रबंध अपना कार्य संपन्न करता है। यह प्रबंध का तंत्र एवं शरीर रचना है। संगठित प्रयासों के द्वारा ही उपक्रम की योजनाओं एवं आवश्यकताओं को साकार किया जा सकता है। केनेथ सी. टोव का कथन है कि "एक सुदृढ़ संगठन व्यवसाय की प्रत्येक समस्या का उत्तर है।"

अंग्रेजी भाषा के शब्द 'Organisation" की उत्पत्ति 'Organism' से हुई है। जिनका आशय किसी ऐसी इकाई से है, जिसके विभिन्न भागों का परस्पर तथा सम्पूर्ण इकाई के साथ एक जटिल संबंध होता है। जब दो या दो से अधिक व्यक्ति मिलकर किसी लक्ष्य की पूर्ति के लिये कार्य करते हैं तो उनके बीच स्थापित संबंधों एवं अंर्तक्रियाओं की संरचना को संगठन कहा जाता है। संगठन की तुलना मानव शरीर की संरचना से की जा सकती है, जिसे विभिन्न अंग अंतर्संबंधित होते हैं तथा एक सामान्य लक्ष्य की पूर्ति के लिये क्रियाशील होते हैं। प्रबंधकीय दृष्टिकोण से संगठन एक व्यापक एवं बहुअर्थी शब्द है। अधिकांश विचारक संगठन को ''व्यक्तियों के आपसी संबंधों का ढांचा'' मानते हैं। इस प्रकार संगठन संस्था के विभिन्न अंगों के कार्यों व संबंधों की औपचारिक संरचना है। हमारे जीवन का मार्ग निर्धारित करने में संगठन एक मुख्य शक्ति होती है। संभवतः मानव कोई भी कार्य बिना संगठन के नहीं कर सकता है। मनुष्य के लक्ष्यों की प्राप्ति का आधार संगठन ही है।

संगठन में संरचना और मानव संबंध दोनों निहित हैं। संगठन प्रशासन का प्रमुख अंग है। किसी भी संस्थान के उद्देश्य की सफल प्राप्ति अथवा प्रयोजन की पूर्ति के लिये जिन साधनों को हम निश्चित सिद्धांतों के अनुसार एकत्रित करना चाहते हैं, वहीं संगठन हैं। संगठन उद्देश्य की प्राप्ति के लिये किये जा रहे कार्य की एक ऐसी योजना की ओर निर्देशित करता है, जिसे सफल बनाने का व्यक्तियों के एक समूह ने निश्चय कर लिया हो और जिसकी प्राप्ति के लिये वह सामूहिक रूप से प्रत्यनशील हो। तकनीकी दृष्टि से संगठन समस्त सहकारी प्रयत्नों के लिये एक विचारधारा है। प्रबंधकीय शस्त्राचार में संगठन एक ऐसा गतिशील शस्त्र है, जो व्यवसाय के प्रबंधकों को योजनाबद्ध विधि से चार महत्त्वपूर्ण 'म' मनुष्य, मशीन, मुद्रा तथा माल के नियंत्रित प्रयोग तथा क्रियान्वय में सहायता करता है। संगठन का उद्देश्य मानवीय प्रयासों का समन्वय करना है। एक अच्छा संगठन स्वस्थ मानव की भांति कार्य करता है, जिस प्रकार मानव शरीर में प्रत्यक कार्य एक दूसरे से अंतर्संबंधित होते हैं, उसी प्रकार औद्योगिक संयंत्र के प्रत्येक विभाग में कार्यरत कर्मचारी मिल–जुलकर लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु प्रयास करते हैं। वास्तव में संगठन वह प्रक्रिया है जो उत्पादन संबंधी विभिन्न कड़ियों को एक सूत्र में पिरोने का कार्य करती है।

डिमॉक एवं कोइनिंग के अनुसार, ''परस्पर आश्रित भागों को उचित कार्य प्रदान कर एक ऐसी एकीकृत सम्पूर्ण इकाई बनाना ही संगठन है, जिसके माध्यम से एक निशचित उद्देश्य की प्राप्ति के लिये अधिकार समन्वय एवं नियंत्रण का प्रयोग किया जा सके।

संगठन के व्यवहार में कार्यकुशलता बनी रहे, इसके लिये यह आवश्यक है कि, उसे सुविधानुसार इकाइयों एवं उप–इकाइयों में विभाजित किया जाये एवं उनके एक साथ मिलकर कार्य करने के लिये उनके मध्य संबंध स्थापित हो। इस प्रकार विभाजन एवं संयुक्तिकरण संगठन की प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग है। जब हम संगठन को इकाइयों में विभाजित करते हैं, तो ध्यान रखना होगा कि, उन विभाजित इकाइयों के मध्य कुछ समानता होनी चाहिये। संगठन की एकता के लिये– (1) कार्य अथवा लक्ष्य, (2) प्रक्रिया, (3) व्यक्ति, (4) स्थान प्रमुख आधार हो सकते हैं। प्रत्येक व्यावसायिक उपक्रम अनेक विभागेां में बंटा होता है, ये विभाग एक–दूसरे से परस्पर संबंधित होते हैं। संगठन के माध्यम से इन विभागों में समन्वय स्थापित किया जाता है। प्रबंध अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये प्रभावशाली संगठन को एक कारक के रूप में प्रस्तुत करता है। संगठन के माध्यम से ही विभिन्न विभागों को उनके अधिकार सीमा के अंतर्गत कार्य आबंटित किये जाते हैं, इन्हीं कार्यों को समय एवं आवश्यकतानुसार संपन्न कराना संगठन का प्रमुख उद्देश्य है।

भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक में उद्देश्यों की पूर्ति के लिये संगठन की आवश्यकता होती है, क्योंकि संगठन के अभाव में कोई भी संस्थान अपने उद्देश्यपूर्ण नहीं कर सकता है। अतः संस्थान को अपने वर्तमान एवं भावी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये संगठन की स्थापना करनी होती है। भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक केन्द्रीय स्तर का संस्थान है। अतः भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक का संगठन व्यापक होना स्वाभाविक है। भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक, वाणिज्यिक बैंकों, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों, सहकारी बैंकों एवं वित्तीय संस्थानों के साथ मिलकर लघु उद्योगों के लिये विकास कार्यक्रमों को संचालित करता है। भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक वर्तमान में देश के सभी राज्यों में कार्यरत है। भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक का केन्द्रीय उद्योग मंत्रालय से प्रत्यक्ष संबंध है। भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक, लघु उद्योग विकास संगठन एवं लघु उद्योग सेवा संस्थान से मिलकर लघु उद्योगों के विकास एवं स्थापना से संबंधित कार्य करता है। परीक्षण केन्द्रों, केन्द्रीय उपकरण संरचना संस्थान, उत्पादन सह विकास केन्द्र, राष्ट्रीय लघु उद्योग विस्तार प्रशिक्षण संस्थान, राष्ट्रीय उद्यमिता विकास संस्थान लघु उद्योगों के विकास संबंधी कार्य मिलकर करते हैं। भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक का संगठन काफी विस्तृत है।

निगमित व्यवस्था वह मूलभूत सिद्धांत है, जो भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक के कामकाज एवं कार्यप्रणाली हेतु मार्गदर्शन प्रदान करता है। निगमित व्यवस्था के अंतर्गत दर्शन के अनुसार नीति विषयक समस्त महत्वपूर्ण निर्णय कार्य निष्पादन की निगरानी एवं अन्य महत्त्वपूर्ण मामलों पर कार्यवाही निदेशक मण्डल स्तर पर की जाती है। महत्त्वपूर्ण प्रकृति के विभिन्न मामलों पर विशेष ध्यान देने के उद्देश्य से बैंक ने निदेशक मण्डल की पांच समितियाँ गठित की हैं। ये समितियाँ – कार्यपालिक समिति लेखा परीक्षा समिति, जोखिम प्रबंध समिति, राज्य वित्तीय निगम पर्यवेक्षण समिति एवं अल्प वित्त हेतु अधिकार

प्राप्त समिति है। निदेशक मण्डल को इन समितियों के निर्णयों की जानकारी कार्यवृत्त प्रेषित करके प्रदान की जाती है।

भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक (संशोधन) अधिनियम 2000 में पन्द्रह सदस्यीय निदेशक मण्डल का प्रावधान किया गया है। इनमें से 8 निदेशक केन्द्र सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते हैं, जिनमें अध्यक्ष एवं प्रबंध निदेशक, दो पूर्णकालिक निदेशक सरकारी अधिकारी और व्यावसायिक अनुभव प्राप्त तीन विशेषज्ञ (राज्य वित्तीय निगमों से एक निदेशक सहित) होते हैं। शेष सात सदस्यों में तीन निदेशकों का नामांकन केन्द्र सरकार के स्वामित्व वाली सबसे बडी शेयरधारक संस्थाओं बैंकों और बीमा कंपनियों द्वारा किया जाता है, जबकि चार निदेशक सार्वजनिक शेयरधारकों द्वारा चुने जाते हैं।

संदर्भ ग्रंथ

1. जी.एस. सुधा, संगठनात्मक व्यवहार।
2. डॉ. जगदीश शरण माथुर, सेविवर्गीय प्रबंध एवं औद्योगिक संबंध।
3. टी.एन. चतुर्वेदी, लोक प्रशासन सिद्धांत एवं व्यवहार।

 ISSN : 2350-0441

पुस्तक चर्चा

सुप्रभात (योग : एक नई नजर से)

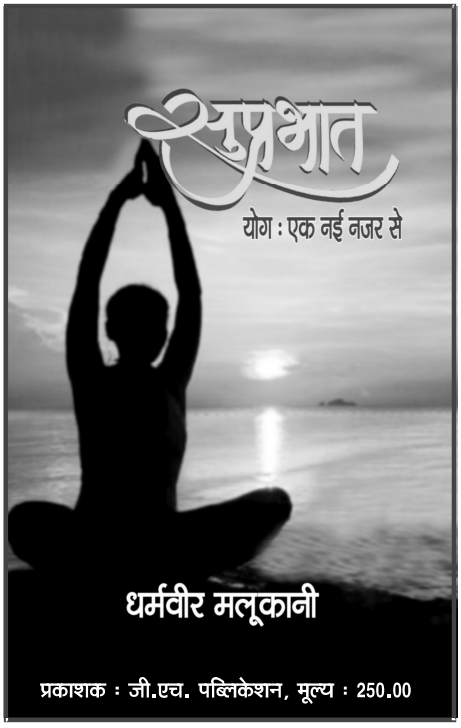

योग की आवश्यकता आज सारे विश्व की आवश्यकता है, मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए।

योग समग्र जीवन की शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। आज हमारे स्वास्थ्य के खोने के कई कारण हैं। खान-पान, रहन-सहन के अलावा हमारे विचार भी हमारे स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं। यह वैज्ञानिक शोधों से साबित हो चुका है।

योग के द्वारा हम अपने रहन-सहन को व्यवस्थित करने के साथ ही अपने बौद्धिक स्तर एवं विचारों को भी व्यवस्थित कर सकते हैं एवं उन्हें पाजिटिव बना सकते हैं, क्योंकि योग जीवन के सभी पहलुओं पर सकारात्मक प्रभाव डालता है, बल्कि यह कहें कि धनात्मक ऊर्जा से शरीर को ओत-प्रोत कर देता है जिससे हमारे जीवन की नकारात्मक सोच एवं रहन-सहन की नकारात्मक प्रणाली से हम स्वयं ही दूर होते जाते हैं। अतः योग की आवश्यकता हमारे जीवन के लिए कितनी उपयोगी है इस बात को भली-भाँति समझा जा सकता है।

प्राचीन समय में योग का अर्थ लोग यह समझते थे कि यह संन्यासियों का काम है। केवल संन्यासियों के लिए ही उपयुक्त है अर्थात् इसे केवल वे ही कर सकते हैं जिन्होंने घर-बार त्याग दिया हो एवं जंगलों में एकान्त में ही इसकी साधना की जा सकती है। इसे पूर्णतः गुप्त विद्या के रूप में ही केवल उन्हें बताया जाता था जो पूरी तरह से इसके प्रति समर्पित होते थे एवं गृहस्थ जीवन के प्रति जिनमें कोई लगाव नहीं होता था। सामान्य जनों में इसका कोई प्रचार-प्रसार नहीं होता था।

परन्तु अब आधुनिक युग में जब इस पर पूरे विश्व में शोध कार्य हो रहे हैं तब यह साबित हो रहा है कि आम जन-जीवन में योग का महत्त्व इतना अधिक है कि हम जीवन से जुड़े लगभग हर क्षेत्र में योग के उपयोग से होने वाले लाभ को प्राप्त कर सकते हैं।

जीवन के सभी क्षेत्रों में योग का महत्त्व निम्नानुसार समझा जा सकता है—

सामान्य स्वास्थ्य के लिए

योग का सामान्य व्यक्ति के लिए स्वस्थ रहने में बहुत बड़ा उपयोग है। यदि स्वस्थ व्यक्ति योगासन, प्राणायाम, ध्यान आदि का अभ्यास करता रहे तो उसका शरीर हल्का एवं लचीला होता है एवं शरीर जितना लचीला होगा उतना ही स्वस्थ रहेगा। शरीर के प्रत्येक जोड़ को केवल योग आसनों के अभ्यास से ही लचीला बनाया जा सकता है। इस प्रकार शरीर को रोगी होने से बचाने के लिए योगासनों का बड़ा योगदान है। इसी प्रकार प्राणायाम से फेफड़ों के रोगों आदि में लाभ मिलता है एवं ध्यान से मानसिक शांति प्राप्त होती है। यदि मन शांत रहेगा तब शरीर में कई व्याधियों के पैदा होने की सम्भावना खत्म हो जाती है।

व्याधियों को दूर करने में

यदि शरीर व्याधियों से ग्रस्त हो गया है तब भी कई प्रकार की व्याधियों को केवल योगाभ्यास के द्वारा दूर किया जा सकता है; जैसे—पेट के सामान्य रोग कब्ज, अजीर्ण आदि को केवल सुप्रभात क्रिया (गुडमार्निंग कोर्स) के द्वारा दूर किया जा सकता है। बॉडी कंडीशनिंग कोर्स के द्वारा वात एवं गठिया आदि को दूर किया जा सकता है। सायटिका एवं कमर दर्द के अलावा सर्दी-जुकाम, ब्लड प्रेशर, दमा, मधुमेह आदि में योगाभ्यास के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता है।

इसके अलावा किडनी आदि के रोगों में भी इसका प्रभाव देखा गया है। लघु शंख प्रक्षालन एवं शंख प्रक्षालन से भी हम पेट के कई रोगों पर काबू पा सकते हैं।

खेलकूद में

योगाभ्यास का खेलकूद में भी काफी योगदान है। किसी भी खेल में प्रगति के लिए सबसे जरूरी चीज है मन की एकाग्रता जो कि हमें ध्यान एवं प्राणायाम के द्वारा प्राप्त होती है। दूसरी जरूरी चीज है शरीर का लचीलापन जो कि हमें आसनों से प्राप्त होता है। तीसरी जरूरी चीज है शरीर का स्टेमिना जो कि आसन एवं प्राणायाम दोनों के द्वारा प्राप्त होता है।

शिक्षा के क्षेत्र में

शिक्षा के क्षेत्र में उच्चतम स्थिति प्राप्त करने के लिए स्वस्थ शरीर, शांत मन एवं एकाग्र परन्तु तेज दिमाग की आवश्यकता होती है। यदि शरीर स्वस्थ नहीं रहेगा तो पढ़ाई में मन लगेगा ही नहीं। यह योगासनों के द्वारा हम प्राप्त कर सकते हैं। योग निद्रा, शिथिलीकरण के द्वारा हम मन को शान्त कर सकते हैं। तेज दिमाग के लिए ध्यान एवं प्राणायाम को अपनाकर इसका लाभ देखा जा सकता है।

इसके अलावा आजकल योग का उपयोग सामाजिक ताने-बाने में हर क्षेत्र में देखा जा सकता है। योगाभ्यास करने से हम जिस क्षेत्र में काम करेंगे उसमें दक्षता हासिल करते हैं तथा स्वस्थ शरीर से जीवन-यापन सुचारु रूप से चलता है। समस्याओं का समाधान ढूँढने में भी सफलता मिलती है।

प्रकाशक : जी.एच. पब्लिकेशन, मूल्य : 250.00

 ISSN : 2350-0441

हमारे प्रकाशन द्वारा प्रकाशित पुस्तकें

	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मूल्य
1.	स्वदेश रक्षण में रानी दुर्गावती एवं लक्ष्मीबाई का योगदान	डॉ. पूनम तिवारी	280.00
2.	औरंगजेब व्यक्तित्व एवं कृतित्व	डॉ. पूनम मिश्रा, डॉ. पूनम तिवारी	250.00
3.	देश के प्रधानमंत्री	प्रफुल्ल कुमार गुप्ता 'अंशु'	125.00
4.	हमारा ब्रह्माण्ड	श्रीमती करुणा श्रीवास्तव	150.00
5.	आविष्कारों की कहानी	डॉ. (श्रीमती) विभा श्रीवास्तव	150.00
6.	प्रकृति और विज्ञान	डॉ. (श्रीमती) विभा श्रीवास्तव	150.00
7.	उपनिषदों की प्रेरक कथाएँ	डॉ. (श्रीमती) विभा श्रीवास्तव	300.00
8.	विश्व की महान महिलाएँ	डॉ. (श्रीमती) विभा श्रीवास्तव	250.00
9.	बघेली व्याकरण	सोमदत्त त्रिपाठी	250.00
10.	वीरांगना दुर्गावती (काव्य)	सोमदत्त त्रिपाठी	250.00
11.	सेहत जो खजानो योग जो आइनो (सिन्धी भाषा में)	धर्मवीर मलूकाणी	150.00
12.	विश्व के भारत रत्न	सन्तोष दुबे	400.00
13.	किहिनी, कहनूति, उखान कोश	रविरंजन सिंह	750.00
14.	काँटे (जीवन का सच), भाग-1	सोमदत्त त्रिपाठी	550.00
15.	काँटे (जीवन का सच), भाग-2	सोमदत्त त्रिपाठी	550.00
16.	किस्सन केर पोथन्ना (बघेली/हिन्दी)	डॉ. सूर्य नारायण गौतम	250.00
17.	विरचितं शतकम् (जनसंख्या निवारणम्)	डॉ. द्वारिका नाथ त्रिपाठी	100.00
18.	विरचितं शतकम् (एड्स रोग निवारणम्)	डॉ. द्वारिका नाथ त्रिपाठी	140.00
19.	वैयाकरण भूषणसार विवेचन (संस्कृत)	डॉ. द्वारिका नाथ त्रिपाठी	300.00
20.	तब और अब रीवा	रविरंजन सिंह	550.00
21.	मेरी आकाशवाणी वार्त्ताओं का संग्रह	डॉ. उमाकान्त मिश्र	350.00
22.	वैदिक चिन्तन मंजूषा	डॉ. सूर्यनारायण गौतम	(प्रेस में)
23.	वेदान्तसार का पुनर्व्यवस्थापन	डॉ. उमाकान्त मिश्रा	(प्रेस में)
24.	संस्कृत गीतमालिका	डॉ. उमाकान्त मिश्र	(प्रेस में)

25.	नाटक संग्रह	उमेश कुमार	(प्रेस में)
26.	श्रीमद्भागवत में मानवीय संवेदना	डॉ. उमाकान्त मिश्र	(प्रेस में)
27.	षोडस संस्कार (संस्कृत)	श्री केदारनाथ द्विवेदी	(प्रेस में)
28.	मेरे शोधपत्रों का संकलन	डॉ. उमाकान्त मिश्र	(प्रेस में)
29.	संस्कृत के ग्रन्थों में राजनीतिक और आर्थिक विकार एवं संस्थाएँ (बृहस्पति, शुक्र, कौटिल्य एवं कामान्दक के संदर्भ में)	डॉ. सन्ध्या कुमारी	(प्रेस में)

पेपर बैक

1.	जल संरक्षण	गौरान्शी कुशवाहा	45.00
2.	मानव अधिकार	गौरान्शी कुशवाहा	60.00
3.	ग्लोबल वार्मिंग	श्रीमती करुणा श्रीवास्तव	50.00
4.	पर्यायवाची एवं मुहावरे	हर्ष कुशवाहा	50.00
5.	भारत के राष्ट्रपति	विजय थावानी	50.00
6.	दादी का आशीर्वाद	डॉ. (श्रीमती) विभा श्रीवास्तव	60.00
7.	विश्व प्रसिद्ध लोककथाएँ	डॉ. (श्रीमती) विभा श्रीवास्तव	60.00
8.	श्रेष्ठ बाल कहानियाँ	डॉ. (श्रीमती) विभा श्रीवास्तव	60.00
9.	भारत रत्न राष्ट्रपति	डॉ. (श्रीमती) विभा श्रीवास्तव	50.00
10.	भारत रत्न प्रधानमंत्री	डॉ. (श्रीमती) विभा श्रीवास्तव	50.00
11.	भारत रत्न महिलाएँ	डॉ. (श्रीमती) विभा श्रीवास्तव	50.00

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUN., 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

गेहूँ की उपज पर समेकित पोषक तत्त्व प्रबंधन का प्रभाव

❒ शिव प्रसाद विश्वकर्मा*
❒ एस. पी. वर्मा**

Corresponding Authors : drspverma_kadc@rediffmail.com

शोध सारांश

कुलभास्कर आश्रम स्नातकोत्तर महाविद्यालय, इलाहाबाद के प्रयोगात्मक फसलोत्पादन प्रक्षेत्र पर वर्ष 2012-13 में गेहूँ की फसल किस्म पी.वी.डब्ल्यू.-343 प्रजाति पर जैविक एवं रासायनिक उर्वरकों का प्रभाव देखा गया। प्रयोगोपरांत पाया गया कि नाइट्रोजन का उद्ग्रहण नियंत्रित प्लाट की तुलना में T_7 (संस्तुत उर्वरक की पूरी मात्रा + पी.एस.बी.) तथा T_3 (संस्तुत उर्वरक की आधी मात्रा + गोबर की खाद की आधी मात्रा + पी.एस.बी.) अधिक हुआ। फास्फोरस का सर्वाधिक उद्ग्रहण T_6 (संस्तुत उर्वरक की पूरी मात्रा + जिंक सल्फेट) वाले प्लाट में 0.53 प्रतिशत पाया गया। इसी प्रकार पोटाश एवं जिंक सल्फेट का उद्ग्रहण T_4 (संस्तुत उर्वरक की पूरी मात्रा + गोबर की खाद की पूरी मात्रा + पी.एस.बी.) एवं T_5 (संस्तुत उर्वरक की पूरी मात्रा) में एक समान रिकार्ड किया गया।

गेहूँ (ट्रिटिकम एस्टिवम एल.) भारत की एक महत्त्वपूर्ण खाद्यान्न फसल है। इसके दाने में 10-11 प्रतिशत प्रोटीन तथा 62-70 प्रतिशत तक कार्बोहाइड्रेट पाया जाता है। गेहूँ की फसल की वृद्धि एवं विकास में नाइट्रोजन एवं फास्फोरस का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। नाइट्रोजन जहाँ पौधे के वायवीय एवं वानस्पतिक भाग की वृद्धि में प्रमुख भूमिका निभाता है वहीं फास्फोरस पौधे जड़ तन्त्र को पूर्ण विकसित करता है। जिससे पौधा भूमि से अपनी खुराक एवं नमी भली-भाँति प्राप्त कर पाता है। पोटैशियम पौधे को मजबूती प्रदान कर जैविक एवं अजैविक कारकों से लड़ने की क्षमता विकसित करता है तथा दाने में चमक एवं गुणवत्ता में वृद्धि करता है (सिंह, 2006)।

प्रयोगात्मक

प्रस्तुत प्रयोग कुलभाष्कर आश्रम पी.जी. कालेज, इलाहाबाद के प्रयोगात्मक फसल उत्पादन प्रक्षेत्र पर 3×4 वर्ग मीटर के प्लाटों पर किया गया। प्रक्षेत्र की मिट्टी जलोढ़ है तथा मृदा कणाकार बलुई एवं क्ले दोमट प्रकार का है। मृदा में उपलब्ध नाइट्रोजन की मात्रा 0.004, फास्फोरस 0.035, पोटैशियम 0.005 तथा गंधक की मात्रा 0.020 प्रतिशत थी। प्रयोग में गेहूँ की पी.बी.डब्ल्यू.-343 प्रजाति की बुवाई की गई तथा ले-आऊट को यादृच्छिक ब्लाक डिजाइन विधि से तैयार करके कुल 9 उपचारों तथा तीन पुनरावृत्ति के साथ फसल की बुवाई की गई। मृदा नमूने फसल की कटाई के पश्चात् लिए गये।

* कुलभास्कर आश्रम पी.जी. कालेज, इलाहाबाद-211001
** कुलभास्कर आश्रम पी.जी. कालेज, इलाहाबाद-211001

सारणी (1)

क्रम संख्या	मृदा के गुण	मान
1.	पी0एच0	7.5
2.	विद्युत चालकता (dSm^{-1} 25^0 C पर)	0.25
3.	धनायन विनियम क्षमता [C mol (P^+)kg^{-1}	21.00
4.	जैविक कार्बन (प्रतिशत)	0.81
5.	कुल नाइट्रोजन (प्रतिशत)	0.097
6.	कुल फास्फोरस (प्रतिशत)	0.092
7.	उपलब्ध नाइट्रोजन (प्रतिशत)	0.004
8.	उपलब्ध फास्फोरस (प्रतिशत)	0.035
9.	उपलब्ध पोटैशियम (प्रतिशत)	0.005
10.	उपलब्ध गंधक (प्रतिशत)	0.20
11.	बालू (प्रतिशत)	58.00
12.	सिल्ट (प्रतिशत)	23.00
13.	मृत्तिका (प्रतिशत)	9.00
14.	मृदा का प्रकार	बलुई क्ले दोमट

सारणी (2)

नाइट्रोजन, फास्फोरस, पोटाश, जिंक सल्फेट, गोबर की खाद, पी.एस.बी. कल्चर में समन्वित प्रयोग का गेहूँ के द्वारा पोषक तत्त्व की प्राप्ति पर प्रभाव

उपचार	नाइट्रोजन (प्रतिशत)	फास्फोरस (प्रतिशत)	पोटाश (किग्रा / हे0)	जिंक (पी0पी0एम0)
T_0	0.058	0.040	183	2.95
T_1 संस्तुत उर्वरक की आधी मात्रा + गोबर की खाद की मात्रा	0.060	0.047	200	3.35
T_2 संस्तुत उर्वरक की आधी मात्रा + गोबर की खाद की पूरी मात्रा	0.065	0.050	206	4.10
T_3 संस्तुत उर्वरक की आधी मात्रा + गोबर की खाद की आधी मात्रा + पी0एस0बी0	0.065	0.050	204	4.20
T_4 संस्तुत उर्वरक की पूरी मात्रा + गोबर की खाद की पूरी मात्रा + पी0एस0बी0	0.061	0.051	214	4.22
T_5 संस्तुत उर्वरक की पूरी मात्रा	0.061	0.051	214	4.22
T_6 संस्तुत उर्वरक की पूरी मात्रा + जिंक सल्फेट	0.064	0.053	202	11.50
T_7 संस्तुत उर्वरक की पूरी मात्रा + पी0एस0बी0	0.065	0.051	204	3.21
T_8 संस्तुत उर्वरक की पूरी मात्रा + जिंक सल्फेट + पी0एस0बी0	0.063	0.042	203	10.51

सारणी (3)

गेहूँ की उपज (दाना एवं भूसा) पर समन्वित पोषक तत्त्व प्रबन्धन
(नाइट्रोजन, फास्फोरस, पोटाश, गोबर की खाद और पी.एस.बी.) का प्रभाव

उपचार	दाने की उपज (कु / हे0)	भूसे की उपज (कु / हे0)
T_0 नियंत्रण	14.23	28.33
T_1 संस्तुत उर्वरक की आधी मात्रा+ गोबर की खाद की मात्रा	17.72	33.60
T_2 संस्तुत उर्वरक की आधी मात्रा+ गोबर की खाद की पूरी मात्रा+पी0एस0बी0	19.80	39.10
T_3 संस्तुत उर्वरक की आधी मात्रा+ गोबर की खाद की आधी मात्रा+पी0एस0बी0	22.21	43.30
T_4 संस्तुत उर्वरक की पूरी मात्रा+गोबर की खाद की पूरी मात्रा+पी0एस0बी0	23.10	43.80
T_5 संस्तुत उर्वरक की पूरी मात्रा	24.38	46.00
T_6 संस्तुत उर्वरक की पूरी मात्रा+जिंक सल्फेट	25.66	56.33
T_7 संस्तुत उर्वरक की पूरी मात्रा +पी0एस0बी0	25.90	49.66
T_8 संस्तुत उर्वरक की पूरी मात्रा+जिंक सल्फेट+पी0एस0बी0	27.00	53.33

परिणाम तथा विवेचना

एकीकृत पोषक तत्त्व प्रबन्ध के प्रभावों को सारणी (2) में दर्शाया गया है। सारणी से स्पष्ट है कि (नियंत्रित) प्लाट में नाइट्रोजन का उद्ग्रहण न्यूनतम (0.058 प्रतिशत) पाया गया।

इसकी तुलना में (संस्तुत उर्वरक की पूरी मात्रा + पी.एस.बी.) तथा (संस्तुत उर्वरक की आधी मात्रा + गोबर की खाद की आधी मात्रा पी.एस.बी.) उपचारित प्लाटों में नाइट्रोजन का उद्ग्रहण एक समान पाया गया। (गुप्ता एवं सहयोगी, 2005 तथा सिहाग एवं सहयोगी, 2005) ने भी अपने प्रयोगों में इसी प्रकार का परिणाम पाया।

फास्फोरस का न्यूनतम उद्ग्रहण (नियंत्रित) प्लाट में (0.04 प्रतिशत) तथा अधिकतम उद्ग्रहण (संस्तुत उर्वरक की पूरी मात्रा + जिंक सल्फेट) वाले प्लाट में (0.53 प्रतिशत) पाया गया। उपचारित प्लाटों में फास्फोरस का उद्ग्रहण एक समान रिकार्ड किया गया।

पोटाश का न्यूनतम उद्ग्रहण (नियंत्रित) प्लाट में पाया गया जबकि सर्वाधिक उद्ग्रहण (संस्तुत उर्वरक की आधी मात्रा + गोबर की खाद की पूरी मात्रा + पी.एस.बी.) एवं (संस्तुत उर्वरक की पूरी मात्रा) में एक समान पाया गया।

नाइट्रोजन एवं फास्फोरस एवं पोटाश की तरह जिंक का उद्ग्रहण (नियंत्रित) प्लाट में सबसे कम (2.95 पी.पी.एम.) पाया गया जबकि अधिकतम उद्ग्रहण जिंक उपचारित प्लाटों (संस्तुत उर्वरक की पूरी मात्रा + जिंक सल्फेट) एवं (संस्तुत उर्वरक की पूरी मात्रा) में (4.22 पी.पी.एम.) पाया गया। नायक एवं सहयोगी (2000) तथा मणि एवं सहयोगी (2002) के प्रयोगों में भी इसी प्रकार के परिणाम प्राप्त हुए।

सारणी (3) के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि (नियंत्रित) प्लाट में दाने एवं भूसे की न्यूनतम उपज क्रमशः 14.23 कु./हे. तथा 28.33 कु./हे. प्राप्त हुई। इसकी तुलना में सभी अपचारित प्लाटों में दाने एवं भूसे की उपज अधिक प्राप्त हुई। दाने की सबसे अधिक उपज (संस्तुत उर्वरक पूरी मात्रा + जिंक सल्फेट + पी.एस.वी.) प्लाट में 27.0 कु./हे. प्राप्त हुई और भूसे की मात्रा 53.33 कु./हे. प्राप्त हुई। जबकि (संस्तुत उर्वरक की पूरी मात्रा + पी.एस.बी.) तथा (संस्तुत उर्वरक की पूरी मात्रा + जिंक सल्फेट) में दाने एवं भूसे की उपज क्रमशः 25.90 कु./हे., 49.66 कु./हे. तथा 25.66 कु./हे., 56.33 कु./हे. प्राप्त हुई जो लगभग एक समान थी। भूसे की सर्वाधिक उपज उपचारित प्लाट T_6 (संस्तुत उर्वरक की पूरी मात्रा + जिंक सल्फेट) ने 56.33 कु./हे. प्राप्त हुई। इसी प्रकार का परिणाम यदुवंशी एवं सहयोगी (2001) तथा मणि (2009) के द्वारा भी प्राप्त हुए। उपरोक्त परिणामों से यह सिद्ध होता है कि समेकित पोषक तत्त्व प्रबंधन करके गेहूँ का सर्वाधिक उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है तथा रासायनिक उर्वरकों पर निर्भरता 50 प्रतिशत तक कम की जा सकती है।

निर्देश

सिंह, उदय नरायन (2006), Corp Science, 194-96

गुप्ता, आर.के. शर्मा, के.एन. सिंह, विजय, यादुवेन्द तथा अरोरा, वी.आर. J. Indian Soc. Soil Sci., 2005, 51 (1), 74-80

सिहाग, डी. सिंह, जे.पी. मेहता, डी.एस. तथा भारद्वाज, के.के. J. Indian Soc. Soil Sci., 2005, 53 (1) 80-84

नायक, ए.के. तथा गुप्ता, एम.एल., J. Indian Soc. Soil Sci. 2000, 48 (1) 194-96

मणि, दिनेश उपाध्याय, श्री कृष्ण कुमार, अरविन्द पाठक, नीरज तथा शिव बालक, Vijnana Parishad Anushandhan Patrika, 2009, 25 (3), 257-63

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUN., 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

जनसंख्या, मानव हस्तक्षेप एवं पर्यावरण

❒ एस. पी. वर्मा*

Corresponding Authors : drspverma_kadc@rediffmail.com

शोध सारांश

बढ़ती जनसंख्या की विकरालता का सीधा प्रभाव प्रकृति पर पड़ता है जो जनसंख्या के आधिक्य से अपना संतुलन बैठाती है और फिर प्रारम्भ होता है असंतुलित प्रकृति का क्रूरतम तांडव। जिससे हमारा समस्त जैवमण्डल प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। माल्थस अर्थशास्त्री के अनुसार, ''यदि आत्मसंयम और कृत्रिम साधनों से बढ़ती जनसंख्या को नियत्रिंत नहीं किया गया तो प्रकृति अपने क्रूर हाथों से इसे नियंत्रित करने का प्रयास करेगी।''

मुख्य शब्द– जनसंख्या, मानव हस्तक्षेप, प्रकृति, पर्यावरण

परिचय–

जनसंख्या वृद्धि का अर्थ केवल लोगों की संख्या बढ़ने से नहीं है। किसी क्षेत्र विशेष की जनसंख्या वृद्धि का आकलन हम तभी कर सकते हैं जबकि सामाजिक एवं आर्थिक सुविधाएँ होने के बावजूद भी हम अपना जीवन–यापन ठीक ढंग से नहीं कर पाते हैं। उदाहरण के लिए जब हमारें संसाधन जैसे–भूमि, जल तथा खाद्य पदार्थ आदि वहाँ रहने वाले लोगों को कम पड़ने लगते हैं तो हम कहते हैं कि जनसंख्या में वृद्धि हो रही है। जनसंख्या वृद्धि के दबाव के कारण मनुष्य जितने भी प्राकृतिक संसाधन हैं उनका सदुपयोग नहीं कर पाता बल्कि उनका अन्धाधुंध उपयोग करने लगता है जिससे उनकी संख्या/मात्रा में भारी कमी आ जाती है और वे संसाधन कम हो जाते हैं। उदाहरणार्थ–पृथ्वी के अन्दर जलस्तर नीचे चला जाता है प्रति व्यक्ति वनों का क्षेत्रफल अथवा पेड़ों की संख्या कम हो जाती है। प्राकृतिक संसाधनों के आवश्यकता से अधिक दोहन से पर्यावरण पर कुप्रभाव पड़ता है। जिसके फलस्वरूप वातावरण में प्रदूषण तथा अन्ततः पर्यावरण असंतुलन की स्थिति पैदा हो जाती है जिसके दुष्परिणाम समय–समय पर हमें देखने को मिलते हैं।

(अ) जनसंख्या–

स्वतंत्रता के बाद हमारी जनसंख्या लगभग तीन गुना बढ़ चुकी है। 1951 में उ0प्र0 एवं भारत की जनंसख्या क्रमशः 6.32 एवं 36.11 करोड़ थी जो 2011 में बढ़कर क्रमशः 19.96 एवं 121.01 करोड़ हो चुकी है। उ0प्र0 एवं भारत में जनसंख्या वृद्धि की सारणी–1 में दर्शाया गया है।

* सह प्राध्यापक (पशुपालन एवं दुग्ध विज्ञान), कुलभास्कर आश्रम पी.जी. कालेज, इलाहाबाद-211001

सारणी–1 उ0प्र0 एवं भारत की दशक पर जनसंख्या (करोड़ में)

वर्ष	उ0प्र0 की जनसंख्या	भारत की जनंसख्या	उ0प्र0 व भारत की जनसंख्या का प्रतिशत
1901	4.86	23.84	20.3
1911	4.82	25.21	19.21
1921	4.67	25.13	18.58
1931	4.98	27.9	17.84
1941	5.65	31.87	17.72
1951	6.32	36.11	17.50
1961	7.38	43.92	16.80
1971	8.83	54.82	16.10
1981	11.09	68.33	16.23
1991	13.9	84.63	16.42
2001	16.62	102.86	16.15
2011	19.96	121.01	16.49
2019	23.20	136.66	16.97

प्राकृतिक संसाधन नहीं बढ़ रहे हैं अर्थात जनसंख्या वृद्धि प्राकृतिक संसाधनों पर दबाव का बढ़ना है। वर्ष 2011 में प्रदेश की जनसंख्या देश की जनसंख्या 16. 49 प्रतिशत थी। जनसंख्या का सबसे अधिक दबाव भूमि पर पड़ रहा है। लगातार बढ़ती जनसंख्या के कारण खेती योग्य भूमि एवं आवास की कमी होती जा रही है।

जनसंख्या वृद्धि का दुष्प्रभाव–

पेड़–पौधे, जीव–जन्तु एवं मानव के बीच एक प्राकृतिक संतुलन रहता है। प्रकृति का यह नियम है कि वनस्पति एवं प्राणी पर्यावरण के अनुसार अपने को समायोजित कर लेते हैं। यदि पर्यावरण में जरा भी परिवर्तन होता है तो उसको प्रभाव पेड़–पौधे, जीव–जन्तु एवं मानव सभी पर पड़ता है।

बढ़ती हुई आबादी से पर्यावरण का अस्तित्व खतरे में पड़ता जा रहा है। पर्यावरण पर अनवरत रूप से दबाव बढ़ता जा रहा है। जनसंख्या एवं मानव द्वारा उपयोग की जाने वाली वस्तुओं में आनुपातिक असंतुलन उत्पन्न हो गया है।

जनसंख्या वृद्धि से होने वाली समस्याएँ–

- खाद्यान्न की समस्या
- आवास की समस्या
- चिकित्सकीय सुविधाओं में कमी
- यातायात में असुविधा
- पेयजल की समस्या
- जीवन की गुणवत्ता में कमी
- स्वच्छता की समस्या
- रोजगार की समस्या
- प्रदूषण की समस्या

मानव हस्तक्षेप–

1. ऊर्जा जीवन के लिए आवश्यक– ऊर्जा सूर्य के प्रकाश, बहते जल एवं वायु तथा भोज्य पदार्थों में प्राकृतिक रूप से संचित होती है। ऊर्जा ही हमें अपने दैनिक कार्य करने तथा हमारी सुख–सुविधाओं का उपभोग करने में सहायता करती है। ऊर्जा के लिए मानव गोबर के कंडे, लकड़ी, कोयला, डीजल, पेट्रोल, मिट्टी का तेल, एल0पी0जी0 आदि का उपभोग इतनी अधिक मात्रा में कर रहे हैं। सभी ऊर्जा के स्रोतों के जलने से CO_2, CO, SO_2 आदि गैसों के उत्सर्जन से धुँआ होता है और वायु प्रदूषण होता है। नाभिकीय ऊर्जा से रेडियोधर्मिता के प्रदूषण का खतरा होता है। विद्युत ऊर्जा का उत्पादन बाँध बनाकर रोके गये पानी

को ऊँचाई से गिराकर भी किया जाता है। परन्तु नदियों का पानी रोककर बाँध बनाने के कई दुष्परिणाम हैं। व्यक्तिगत रूप से ऊर्जा उत्पादन की प्रक्रिया में होने वाले प्रदूषण पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं हो सकता, परन्तु परोक्ष रूप से हम अपना योगदान कर सकते हैं।

2. जल के बिना जीवन नहीं– खाद्यान उत्पादन, औद्योगिक विकास ऊर्जा तथा पेयजल के अतिरिक्त अपशिष्ट पदार्थों के निस्तारण के लिए ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है। कुएँ, हैण्डपम्प के अतिरिक्त हम तालाबों, झरनें, नदियों आदि प्राकृतिक स्रोतों से जल प्राप्त करते हैं।

गंगा, यमुना, गोमती, घाघरा एवं राप्ती उ0प्र0 की प्रमुख नदियाँ हैं। गंगा को स्वच्छ तथा निर्मल नदी के रूप में जाना जाता था। परन्तु आज गंगा संसार की उस सात प्रदूषित नदियों में से है जो पूर्णतः प्रदूषित हो चुकी है। बड़े–बड़े गन्दे नालों और कारखानों से निकलने वाले कचरों को सीधे नदियों में प्रवाहित किये जा रहा है। जिसके कारण इन नदियों में फ्लोराइड और आर्सेनिक जैसे जानलेवा तत्व मिल चुके हैं। नदियों में गिराये जाने वाले रासायनिक पदार्थों से कैडमियम, सीसा तथा पारा जैसे तत्व या उनके यौगिक पानी में पहुँच जाते हैं। ऐसे दूषित जल के सेवन करने से हमारा स्वास्थ्य बिगड़ जाता है।

प्रदूषित नदियों के समुद्र में मिलने से समुद्र भी प्रदूषित हो रहा है। अपशिष्टों, कीटनाशकों, हाइड्रोकार्बन तथा विषाक्त पदार्थ समुद्र में मिल जाने के कारण समुद्र प्रदूषित हो रहा है। कभी–कभी तेल के टैंकरों अथवा समुद्री जहाजों के दुर्घटनाग्रस्त हो जाने पर उनमें भण्डारित पदार्थ समुद्रा में मिल जाते हैं। तैलीय अपशिष्टों के कारण समुद्र में तेल की पतली सतह फैल जाती है। तेल की यह सतह सौर ऊर्जा का जल में प्रवेश तथा गैसों के आदान–प्रदान में बाधा उत्पन्न करती हैं इससे जलीय जीव–जन्तुओं को सांस लेने में कठिनाई होती है।

मनुष्य वनों का भक्षक–

जनसंख्या बढ़ने के कारण मनुष्य पेड़ काटकर घर तथा मार्ग निर्माण व ईंधन के रूप में उपयोग करने लगा। इस प्रकार वनों के नष्ट होने से पर्यावरण सम्बंधी अनेक समस्यायें उत्पन्न होने लगी। वन भूमि के कटाव को रोकते हैं। भूमि के कटाव के कारण उपजाऊ शक्ति कम हो जाती है। वनों में निवास करने वाले दुर्लभ पशु–पक्षियों तथा वनस्पतियों की प्रजातियाँ विलुप्त होती जा रही है। इसका एक उदाहरण भारतीय चीता है जो अब विलुप्त हो गया है।

जनसंख्या वृद्धि एवं पर्यावरण–

जनसंख्या बढ़ने से इसका सीधा प्रभाव हमारे पर्यावरण पर पड़ रहा है। हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपलब्ध विभिन्न संसाधनों का दोहन कर रहे हैं जिसके कारण पर्यावरण असंतुलन बढ़ रहा है। भोजन व आवास की पूर्ति हेतु हम वनों का विनाश करते जा रहे हैं जो हमारे जीवन के लिए अत्यावश्यक है। अपने श्वसन से हम कार्बन डाई ऑक्साइड तथा जलवाष्प अवमुक्त करते हैं–ये गैंसे सूर्य से आने वाले विकिरण को अवशोषित कर लेती हैं तथा वापस नहीं जाने देती। जिसके कारण पृथ्वी का तापमान बढ़ रहा है। इन गैसों द्वारा पृथ्वी के ताप का बढ़ना हरित गृह प्रभाव कहलाता है। लोग सम्पन्न एवं सुखी जीवन व्यतीत करने की होड़ में लगातार वाहनों तथा विभिन्न यंत्रों जैसे–रेडियों, टेलीविजन, फ्रिज आदि का प्रयोग कर रहे हैं जो कई तरह के प्रदूषण उत्पन्न करते हैं।

संदर्भ–

1. धनंजय चोपड़ा (1994) बढ़ती जनसंख्या और पर्यावरण, योजना सितम्बर, 1994
2. हरिश्चन्द्र व्यास (2004) जनसंख्या, प्रदूषण और पर्यावरण विद्या विहार प्रकाशन।
3. हमारा पर्यावरण–प्रकाशक राज्य शैक्षिक, अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद, लखनऊ।
4. पी0डी0 शर्मा (2012) इकोलॉजी एण्ड एनवायरमेंट रस्तोगी पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

SHODH CHETNA – YEAR-2
(APR. TO JUNE, 2016) VOL. 2

ISSN : 2350-0441

गुलाब की खेती की समस्याएँ

❐ डॉ. जे.पी. सिंह*

शोध सारांश

प्रस्तुत शोध पत्र में गुलाब की खेती के सम्बन्ध में समस्याओं का अध्ययन किया गया है जो उ0प्र0 के अलीगढ़ मण्डल पर आधारित किया गया है। गुलाब की खेती से जुड़ी समस्याओं का अध्ययन निम्नवत में किया जा सकता है।

प्रस्तावना

गुलाब खेती में संलग्न कृषकों की समस्यायें

गुलाब की खेती करने में अनेक समस्यायें हैं जिनका सामना कृषक को करना पड़ता है। गुलाब की खेती में संलग्न कृषकों की निम्नलिखित प्रमुख समस्यायें है–

(1) अशिक्षा– किसी भी आर्थिक पहलू से यदि कोई व्यक्ति जुड़ा होता है तो उसके लिये शिक्षा अति आवश्यक होती है। गुलाब की खेती का वास्तविक मूल्य लेने, अधिक लाभ प्राप्त करने के लिये कृषक का शिक्षित होना अति आवश्यक है किन्तु 2011 की जनगणना के अनुसार हाथरस, अलीगढ़ तथा कासगंज जनपदों में निरक्षरता क्रमशः 37.7 प्रतिशत, 40.3 प्रतिशत तथा 45.4 प्रतिशत है। यह निरक्षरता सर्वाधिक गाँवों में है। अतः विभिन्न प्रकार के कृषि कार्य करने वाले कृषक ही सर्वाधिक अशिक्षित है। अशिक्षित होने के कारण कृषक न तो गुलाब के मूल्य का उचित निध ार्ारण कर पाता है और न किसी नवीन तकनीक, उर्वरक तथा कीटनाशक दवा के विषय में उसे कोई जानकारी हो पाती है। वह अशिक्षित होने के कारण गुलाब को खेती में संलग्न एजेण्टों से ऋण ले लेता है और समय पर वापस नहीं करता है जिसके कारण उसे ऋण के बदले में गुलाब के फूलों का कम मूल्य पर विक्रय करना पड़ता है। अशिक्षित होने के कारण कृषक खाद, दवाओं आदि का समय पर प्रयोग नहीं कर पाता है और उसे खेती में कम उत्पादकता प्राप्त होती है। अशिक्षित होने के कारण कृषक को गुलाब की खेती से पर्याप्त लाभ प्राप्त नहीं होता है और जो कृषक शिक्षित होते हैं वे ऊँचे मूल्य पर गुलाब के फूलों का विक्रय करते हैं। इस प्रकार अशिक्षित होने के कारण कृषक उच्च आर्थिक लाभ वाली फसल होने के बावजूद भी गुलाब से अधिक लाभ अर्जित नहीं कर पाता है और उसकी आय निम्न ही बनी रहती है। अशिक्षित होने के कारण कृषकों को तो हानि उठानी पड़ती है साथ ही साथ गुलाब की खेती का विकास भी अवरूद्ध हो जाता है।

(2) जीतों का छोटा आकार–भारत में जनसंख्या वृद्धि दर उच्च होने के कारण 2011 की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या 125.03 करोड़ के लगभग थी। जिसमें से हाथरस, अलीगढ़ तथा कासगंज में जनसंख्या घनत्व क्रमशः व्यक्ति प्रति वर्ग कि०मी०, 798 व्यक्ति प्रति वर्ग कि०मी० तथा 611 व्यक्ति प्रति वर्ग कि०मी० है जो स्पष्टकरते हैं कि लगभग0.15 हैक्टेयर भूमि ही इन जनपदों में एक कृषक के पास है। जिससे जोतों का आकार छोटा होना स्वाभाविक है। जोतों के छोटे आकार के कारण गाँव में निवास

* एसो. प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग, डी.एस. कालेज, अलीगढ़ (उ.प्र.)

करने वाले लोग उस भूमि में अपने उपभोग की वस्तुएँ ही उगा पाते हैं। खाद्योत्तर फसलों को उगाने के लिए कृषकों के पास भूमि ही शेष नही बचती और कम क्षेत्रफल होने के कारण परम्परागत खेती हो करते रहते हैं या फिर गुलाब की खेती को कम क्षेत्रफल में करने के कारण उसके विकास की ओर कम ध्यान देते हैं। कम क्षेत्रफल में कम उत्पादन होने के कारण अपने उत्पादन को कृषक अधिकांशतः एजेण्टों को ही बेच देते है जिसका मूल्य कृषक को उचित रूप में नहीं मिल पाता है। कुछ बड़े कृषक ही गुलाब की खेती को बड़े पैमाने पर करते हैं और उच्च आर्थिक लाभ की फसलों का उत्पादन प्राप्त करते है। इस प्रकार जोत के छोटे आकार के कारण भी गुलाब की खेती का विकास तथा कृषकों का आय सृजन दोनों बुरी तरह प्रभावित है।

(3) ऋण की अपर्याप्तता– गुलाब की खेती को उच्च स्तर पर करने के लिये कृषक के पास पर्याप्त साख का अभाव है और साख की कमी के कारण वह न तो सिंचाई समय पर कर पाता है और न खाद, गुड़ाई, गमले बनाना, गुलाब की कलम, कीटनाशक दवाओं का प्रयोग, पुष्पोत्पादन में वृद्धि के लिये मिश्रण आदि का प्रयोग समय पर कर पाता है। गुलाब की खेती करने वाला कृषक वित्त की आवश्यकता पूरी करने में असमर्थ है। जिसके कारण वह नवीन तकनीकों के प्रयोग से वंचित रह जाता है। वित्त की कमी से कृषक या तो गुलाब की खेती करता ही नहीं है या उसकी उचित देखभाल नहीं कर पाता है। वित्त के अभाव के कारण ही कृषक ऋणों से घिरे हुए हैं।

अनिश्चितता– गुलाब को भाग्य की खेती कहा जाता है। इसका प्रथम कारण यह है कि हाथरस जनपद के गोपालपुर, सीधामई, हसायन तथा छौंक गाँव के अनेक कृषकों ने कई प्रकार के उर्वरक, कीटनाशक दवायें तथा मिश्रण प्रयुक्त किये किन्तु उनके प्रयोग से पुष्पोत्पादन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा बल्कि जिन कृषकों ने साधारण तरीकों से ही खेती की उन कृषकों की उत्पादकता विशेष प्रकार से खेती करने वाले कृषकों की तुलना में उच्च रही है या उर्वरक तथा मिश्रणों के प्रयोग से पुष्पोत्पादन प्रभावित नहीं होता है। इसका दूसरा कारण यह है कि गेहू, जौ, धान, आलू की तरह गुलाब का उत्पादन प्रतिवर्ष स्थिर नहीं रहता है बल्कि प्रतिवर्ष गुलाब के फूलों का उत्पादन प्रति हैक्टेयर किसी कृषक का बहुत अधिक तो किसी कृषक का बहुत कम होता है। 2008 में हाथरस जनपद के प्रमुख गुलाब उत्पादक गाँव टिकारी का पुष्पोत्पादन 14.5 मन प्रति एकड़ रहा। वहीं कासगंज जनपद के गाँव नगला भूड़ का उत्पादन 17 मन प्रति एकड़ रहा है। उपरोक्त कारणों से ही कृषक गुलाब की खेती को भाग्य की खेती या अस्थिर उत्पादन वाली खेती मानते है और गुलाब की खेती को अपनाने से डरते हैं।

मूल्य की अस्थिरता– गुलाब की खेती की समस्याओं में सबसे बड़ी समस्या गुलाब के फूलों का अस्थिर मूल्य है। गुलाब की खेती में यदि पुष्पोत्पादन ऊँचा रहता है तो गुलाब के मूल्य उतने ही कम रहते हैं तथा पुष्पोत्पादन कम होने पर मूल्य ऊँचे रहते हैं जिसके कारण अधिक उत्पादन से अधिक आर्थिक लाभ प्राप्त नहीं होता है। पिछले 10 वर्षों में तीन बार गुलाब की खेती में उच्च पुष्पोत्पादन हुआ है जिसका मूल्य व्यापारीवर्ग द्वारा बहुत ही कम दिया गया है। सन् 1998 में गुलाब की खेती का पुष्पोत्पादन रिकार्ड स्तर पर 60–65 मन हैक्टेयर तक हुआ है। किन्तु उसका मूल्य कृषकों को 500–600 रू0 प्रति मन की औसत से ही प्राप्त हुआ। सन् 2002, 2008 में भी अधिक पुष्पोत्पादन होने पर व्यापारी वर्ग ने मूल्यों को गिराकर क्रमशः 800 रू0. तथा 1200 कर दिया था। जबकि सन् 1999 में गुलाब के फूलों का मूल्य 5400–6000 रू० प्रति मन रहा थी। अतः गुलाब की खेती के मूल्यों में पाई जाने वाली अस्थिरता कृपकों के लिये एक बड़ी समस्या है जो गुलाब की खेती के विकास एवं विस्तार में बाधक है।

संगठन का अभाव– भारतीय कृषक अशिक्षित, गरीब है तथा उसके मानसिक विचार परस्पर वैमनस्यता का शिकार होते हैं। कृषकों की इस वैमनस्यता के कारण ही उनमें आपसी सहयोग का अभाव होता है। कुछ कृषक संगठनों में कार्य करना भी चाहते हैं किन्तु सरकारी तथा गैर सरकारी संस्थाओं का उनके प्रति रवैया ठीक नहीं होता है। यह संस्थायें उसे अशिक्षित तथा मूर्ख समझकर उसे उचित प्रकार से संतुष्ट करने का प्रयास नहीं करती है जिसके कारण वह स्वयं को

संगठनों से पृथक कर लेता है। यहाँ तक कि वह संगठनों के कार्यक्रमों में भाग लेना भी नहीं चाहता है। संगठन के अभाव के कारण ही कृषक का शोषण होता है। सन् 2002 तथा 2008 मेंसंगठन शक्ति ने ही कृषकों को गुलाब का उचित मूल्य दिलाया है किन्तु विचारों की अपरिपवक्ता के कारण ही कृषक इन संगठनों से दूर रहता है। यही कारण है कि हाथरस, अलीगढ़ तथा कासगंज गुलाब उत्पादक जनपदों में एक भी कृषक संगठन नहीं है जो गुलाब की खेती के लिये कार्य करता है।

कृषि विशेषज्ञों का अभाव– गुलाब की खेती एक क्षेत्र विशेष में की जाने वाली खेती है जिसके कारण गुलाब की खेती के विशेषज्ञों का अभाव है तथा संगोष्ठियों तथा कार्यशालाएँ उपयुक्त समय पर आयोजित भी नही हो है। जिसके कारण कृषकों को समय पर मार्गदर्शन नहीं मिल पाता है। अनेक ऐसे अवसर देखे गये हैं कि गुलाब गोष्ठी तथा कार्यशालाओं के आयोजनों में गुलाब की खेती करने वाले कृषकों की संख्या नगण्य रहती है और कृषक नवीन जानकारियों से अछूते रह जाते है। गुलाब गोष्ठियों में आने वाले कृषि विशेषज्ञ सामान्य रूप से गेहू, जौ, चना, मटर, आलू आदि फसलों के विषय में जानकारियाँ रखते हैं। उन्हें गुलाब की खेती की विशेष जानकारी नहीं होती है।

समस्याओं का अधूरा निदान– गुलाब की खेती करने वाले कृषक अपनी समस्याओं को लेकर कई बार सरकारी कर्मचारियों के पास निदान के लिये गये हैं। किन्तु उनकी समस्याओं का निदान अधूरे स्तर पर किया गया है। सन् 2002 तथा 2008 में हसायन विकास खण्ड पर कृषकों ने गैर सरकारी संस्थाओं की मदद से अनशन, सड़क जाम जैसे कई कार्य किये। जिलाधिकारी ने गुलाब की खेती का मूल्य भी उचित निर्धारित किया। किन्तु मूल्य निर्धारण करने के पश्चात सभी अधिकारियों ने अपने कर्तव्य से मुक्ति पा ली और किसी ने यह देखना आवश्यक नहीं समझा कि वास्तव में व्यापारी निर्धारित मूल्य पर फूल खरीद रहे है या नहीं या कृषक अपने उत्पादन कोउचित मूल्य पर बेच पा रहे है या नहीं। जिलाधिकारी द्वारा निर्धारित मूल्य मात्र एक ही फसल के लिये रहा है जिसका लाभ कुछ बड़े कृषकों, एजेण्टो तथा व्यापापारियों के लेखाकारों को ही प्राप्त हुआ है। सामान्य कृषकों के लिये तो हानि तथा अपूर्ण समाधान ही प्राप्त हुआ है।

विद्युत आपूर्ति की समस्या– हाथरस, अलीगढ़ तथा कासगंज के कृषकों का कहना है कि उन्हें गुलाब की सिंचाई अधिकांशतः इंजन आदि माध्यमों से करनी पड़ती है। विद्युत की पूर्ति सन् 2000 से मात्र 2 या 3 घंटे प्रतिदिन रहती है। विद्युत आपूर्ति की कमी के कारण कृषकों की गुलाब की खेती की लागत बढ़ जाती है और उनका आर्थिक लाभ कम हो जाता है।

गुलाब उद्योग के अपशिष्ट तथा प्रदूषण की समस्या–कृषकों के अनुसार हसायन विकास खण्ड में स्थित गुलाब के कारखानों से प्रतिदिन बड़ी मात्रा में राख, फूलों का अपशिष्ट, मिट्टी, अत्यधिक जल तथा धुंआ निकलता है जिससे वहाँ के रास्तों पर निकलना तथा स्वाँस लेना मुश्किल हो जाता है। चारों ओर भाप तथा धुएँ की स्थिति हो जाती है।

अन्य समस्यायें– गुलाब की खेती में संलग्न कृषकों की उपरोक्त समस्याओं के अतिरिक्त अन्य समस्यायें भी है। कुछ कृषक सामाजिक प्रतिष्ठा के कारण अपने उत्पादन को उचये अपने कारखानों तक नहीं ले जाते है जिसके कारण एजेण्टो को संवल प्राप्त होता है। कुछ कृषक गुलाब को केवल भाग्य की खेती मानकर विशेष प्रयास नहीं करते है और प्रयास के अभाव के कारण गुलाब की खेती का विकास रूक जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

जे० फेलिक्स राज दिल्ली. 2008 ''इण्डियन इकॉनॉमी'', दीप एण्ड दीप पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

ठाकुर, डी० – ''एग्रीकल्चरल सेक्टर डेवलपमेंट'' दीप एण्ड दीप पब्लिकेशन, नई दिल्ली

डॉ० सिंह, हाशमी ''पश्चिमी उ0प्र0 में औषधीय फसलों की खेती (सम्भावनाएवं विकास) अलीगढ़, 2004

सिंह, सूरत, सिंह मोहिन्दर – ''रूरल डेवलपमेंट एडमिनिस्ट्रेशन इन द 21 सेन्चुरी'' दीप एण्ड दीप पब्लिकेशन, नई दिल्ली

शर्मा, वी०के०''एडवान्सिस इन होर्टिकल्चर दीप एण्ड दीप पब्लिकेशन, नई दिल्ली।